॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १७०

जैनन्यायखण्डखाद्यम्

विमर्शाख्यहिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

आचार्यः श्रीबदरीनाथशुक्लः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
१७०

श्रीयशोविजयसूरिविरचितं

जैनन्यायखण्डखाद्यम्

विमर्शाख्यहिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

न्याय-वेदान्ताचार्यः

आचार्यः श्रीबदरीनाथशुक्लः एम० ए०

(प्राध्यापक : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-१
संस्करण : प्रथम, संवत् २०२३
मूल्य : ८-००

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Chowkhamba, Post Box 8,
Varanasi. (India)
1966
Phone : 3145

KASHI SANSKRIT SERIES
170
*****

JAINA NYĀYA KHANDA KHĀDYAM

OF

SRĪ YAS'OVIJAYA SŪRI

Edited with
An Exhaustive Hindi Commentary.

By
Acharya Badarinath Shukla, M. A.,
Nyāya–Vedāntāchārya,
Prof. Vārāṇaseya Sanskrit University,
Vāranasi.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Post Box 8. Varanasi-1 (India) Phone : 3145
1966

First Edition
1966
Price : 8–00

प्राक्कथन

दर्शन भारत की महनीयतम उपलब्धि है, इसकी तुलना संसार में अन्यत्र अप्राप्य है, भारत के तत्त्वान्वेषी मनीषियों का इस बात में सर्वथा ऐकमत्य है कि दर्शन सम्पूर्ण विश्व के समस्त मनस्तापों की अचूक औषध है, यह वह अपूर्व अञ्जन है जो मनुष्य की दृष्टि को निर्मल बनाकर जगत् के गूढ़तम रहस्यों को देखने की क्षमता प्रदान करता है, यह वह शीतल अनुलेप है जो मनुष्य के बाह्य और आन्तर तापों का निवारण कर उसे शान्त और सुखी बनाता है, यह वह मधुर आहार है जो मनुष्य को सब प्रकार की तुष्टि और पुष्टि प्रदान करता है तथा सतत सेवन करने पर भी कभी अरुचिकर नहीं होता, यह वह पावन और प्रखर प्रकाश है जो केवल बाहरी अन्धकार को ही नहीं अपितु आन्तर अन्धकार को भी ध्वस्त कर ज्ञेय तत्त्व के प्रत्यक्ष दर्शन को सुलभ बनाता है। इसकी महत्ता और उपयोगिता अमित एवं अप्रतिम है। इसने संसार में अहर्निश पनपने वाले राग, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार आदि के वृक्षों की जड़ का पता लगाया है, विश्व के विभिन्न अञ्चलों में धधकते सङ्घर्षानल के इन्धन को पहचाना है, मानव जाति की मानस-दुर्बलता और दुःखदायिनी जीवन-समस्याओं के मूल कारणों को परखा है, इसने जगत् की समस्त अप्रियताओं और आपदाओं के प्रतीकार के ऐसे साधन ढूंढ़ निकाले हैं जिनका प्रयोग कभी विफल नहीं हो सकता। जिस विचार, जिस चिन्तन, जिस अनुसन्धान के निष्कर्ष इन गुणों से हीन हैं उसका विस्तार कितना भी महान् क्यों न हो, उसके अनुयायिओं की जागतिक स्थिति कितनी भी उन्नत क्यों न हो, पर वह दर्शन के पवित्र पद का अधिकारी नहीं हो सकता, भारतीय चिन्तन की विभिन्न धारायें जिस निष्कर्ष की ओर प्रवाहित हुई हैं उसमें यह गुण विद्यमान है अतः वह सब दर्शन पद की अधिकारिणी हैं। और इसीलिये भारतीय दर्शन का परिवार बड़ा विशाल है। जैन दर्शन इस परिवार का एक विशिष्ट सदस्य है जिसे विद्वान् जैनाचार्यों ने चिन्तन, मनन, आलोचन, प्रत्यालोचन आदि अनुशीलन के विविध प्रकारों का आहार दे ऐसा परिपुष्ट और बलवान्, ऐसा समृद्ध और सम्पन्न बनाया है, जिससे वह अनन्त कालतक जिज्ञासु जनों का मनस्तोष करता रहेगा। जैन दर्शन की सबसे बड़ी विशिष्टता इस बात में है कि वह नितान्त निष्पक्ष दृष्टि से

वस्तु को देखने का प्रयत्न करता है, वह वस्तु के कतिपय अंशों को ही देखकर अपने को कृतकृत्य नहीं मानता किन्तु वह वस्तु के समग्र स्वरूप का आकलन करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि वस्तु के किसी आंशिक सौन्दर्य से चकित हो पथभ्रष्ट नहीं होती, किन्तु उसके सम्पूर्ण स्वरूप को देखने के लिये आकुल रहती है। हरिभद्रसूरि के वचनों में जैनदर्शन की यह धारणा है—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र, यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र, तत्र मतिरेति निवेशम्॥

आग्रही मनुष्य की बुद्धि जब एक बार किसी बात को पकड़ लेती है तब वह उसी की पुष्टि में युक्तियों का प्रयोग करता है, किन्तु जो निष्पक्ष और अनाग्रही होता है उसकी बुद्धि युक्ति का अनुगमन करती है, युक्तियां वस्तु का जो स्वरूप प्रस्तुत करती हैं, निष्पक्ष विचारक उसीको स्वीकार करता है।

किसी परम्परागत मान्यता के सम्मुख नतमस्तक न होकर स्वतन्त्र दृष्टि से वस्तु को देखने की तथा उसके सम्बन्ध में अन्यान्य मतवादों के मर्म को निष्पक्ष भाव से समझने और उन्हें उचित मान्यता प्रदान करने की प्रवृत्ति ही जैनदर्शन की जन्मस्थली है, इस प्रवृत्ति ने ही अनेकान्तवाद की सुषमा और स्याद्वाद के सौरभ से उसे सुन्दर और सुवासित बनाया है, इस प्रवृत्ति ने ही उसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप रत्नत्रय की उपलब्धि करायी है, इस प्रवृत्ति ने ही उसे विभिन्न दर्शनों के विचारद्वन्द्व में समन्वय और सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये मध्यस्थ के महान् पद पर बिठाया है, इस प्रवृत्ति ने ही उसे सर्वात्मसमता, अपरिग्रह और अहिंसा की भावना से भरकर मानवता की सेवा करने का सौभाग्य प्रदान किया है। इसी प्रवृत्ति ने उसे वह अनुपम तत्त्वज्ञान दिया है जो किसी भी विचारक की दृष्टि को अपनी ओर बरबस आकृष्ट करता है, जैनदर्शन की इस प्रवृत्ति ने ही उसके अध्ययन के लिये मुझे प्रेरित किया तथा न्यायखाद्यखण्डन जैसे महत्त्वपूर्ण जैनग्रन्थ की व्याख्या लिखने को प्रवृत्त किया। आशा है, इस व्याख्या से न केवल सामान्य जिज्ञासुओं को ही लाभ पहुंचेगा अपि तु इससे विद्वज्जनों को भी कुछ नूतन प्राप्ति और पर्याप्त मनस्तुष्टि होगी।

वाराणसी
१९६६

बदरीनाथ शुक्ल

विषय-सूची

		पृष्ठ
मंगलाचरण	...	१
मोक्ष के उपाय	...	२
बौद्धों का अभिप्राय	...	,,
नैयायिक का अभिप्राय	...	३
बौद्ध का आशय	...	५
कुर्वद्रूपत्व के साधनार्थ बौद्ध का प्रयास	...	८
बौद्ध का वक्तव्य	...	१०
उक्त वक्तव्य का खण्डन	...	,,
बौद्ध के प्रश्न पर न्यायमतानुसार वस्तुस्वभावका निरूपण		१२
बौद्ध का वक्तव्य	...	१५
उक्त वक्तव्य का खण्डन		१६
नयप्रतिबन्दी का प्रकार	...	४६
धर्मकीर्ति और दिङ्नाद आदि का मत	...	५८
उक्त हेतुओं का पृथक् पृथक् परीक्षण	...	८२
ज्ञेय और ज्ञान की अभिन्नजातीयता का खण्डन		८५
ज्ञेय की असत्यता का खण्डन	...	८६
प्रासङ्गिक परिचय	...	६६

जैन-

न्यायखण्डखाद्यम्

ऐङ्कारजापवरमाप्य कवित्वविद्व-
वाञ्छासुरद्रुमुपगङ्गमभङ्गरङ्गम् ।
सूक्तैर्विकासिकुसुमैस्तव वीर ! शम्भो-
रम्भोजयोश्चरणयोर्वितनोमि पूजाम् ॥ १ ॥

गङ्गा के निकट "ऐं" इस बीज मन्त्र के जप के वरहूप में, जिसके सामर्थ्य का कभी ह्रास नहीं होता, ऐसे कवित्व और विद्वत्ता की कामना को पूर्ण करने-वाले देवद्रुम—कल्पवृक्ष को पाकर उसके सद्वचन रूपी खिले हुये पुष्पों से, हे महा-वीर ! मैं तुम्हारे चरण कमलों का पूजन करने जा रहा हूँ, क्योंकि तुम शम्भु—कल्याण के उद्भवस्थान हो ।

इस श्लोक के द्वारा 'महावीरस्तव' जिसका दूसरा नाम 'न्यायखण्डखाद्य' है उसके रचयिता आचार्य यशोविजय जी ने निर्विघ्नता के साथ इस ग्रन्थ की समाप्ति के उद्देश्य से अपने इष्ट मन्त्र ऐङ्कार का स्मरण किया है और वर्तमान तीर्थाधीश्वर वर्धमान स्वामी के प्रति विशिष्ट भक्ति प्रकट करने तथा अपने ग्रन्थ के श्रवण में शिष्यों को सावधान करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की प्रतिज्ञा की है ।

स्तुत्या गुणाः शुभवतो भवतो न के वा
देवाधिदेव ! विविधातिशयर्द्धिरूपाः ।
तर्कावतारसुभगैस्तु वचोभिरेभि-
स्त्वद्वाग्गुणस्तुतिरनुत्तरभाग्यलभ्या ॥ २ ॥

हे समस्त देवताओं के अधिष्ठाता देव ! आप सुन्दर वस्तुओं के आस्पद हैं, आपके गुण अनेक प्रकार के हैं, वे सब के सब उत्कृष्ट अतिशयों की ऋद्धि रूप हैं, उनमें कोई गुण ऐसा नहीं जो प्रशंसा के योग्य न हो, फिर भी तर्क के सम्बन्ध

से सुन्दर वचनों द्वारा आपकी वाणी के गुणों की ही स्तुति मुझे करनी है क्योंकि वही सर्वोत्तम भाग्य का लाभ है।

> नैरात्म्यदृष्टिमिह साधनमाहुरेके
> सिद्धेः परे पुनरनाविलमात्मबोधम्।
> तैस्तैर्नयैरुभयपक्षसमापि ते वागा-
> द्यं निहन्ति विशदव्यवहारदृष्ट्या ॥ ३ ॥

मोक्ष के उपाय का विचार करते हुये कुछ विद्वानों ने–बौद्धों ने–नैरात्म्य-दर्शन को ज्ञान से भिन्न गुणों का आधार द्रव्य रूप आत्मा नहीं है, इस निश्चय को मोक्ष का उपाय बताया है, दूसरे विद्वानों ने जिन्हों ने न्याय, वैशेषिक शास्त्रों का अनुशीलन किया है, निर्मल आत्मज्ञान को—आत्मा शरीर, मन, इन्द्रिय आदि से भिन्न; जन्म, जरा आदि विकारों से रहित, ज्ञान से भिन्न और ज्ञान आदि गुणों का आधार द्रव्य है, इस निश्चय को मोक्ष का उपाय कहा है, हे भगवन्! तुम्हारी वाणी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे भिन्न भिन्न नयों के अनुसार यद्यपि इन दोनों पक्षों के अनुकूल है तथापि विशदव्यवहार-मोक्ष की ओर ले जाने वाले व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से पहले पक्ष—बौद्धों के अनात्मवाद को अप्रामाणिक बता उसका खण्डन करती है।

बौद्धों का अभिप्राय :—

संसार के प्राणी अपने आपको सुस्थिर मान कर अपने भविष्य को दुःखहीन एवं सुखमय बनाने की इच्छा से अनेक प्रकार के भले बुरे उपायों से सुख के साधनों का संग्रह करते हुए पुण्य पाप का अर्जन करते हैं, फलतः उन्हें जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु जैसी अनिष्ट घटनाओं से भरे दुर्दिन देखने पड़ते हैं। इस प्रकार विचार करने पर मनुष्य के समस्त संकटों का मूल उसकी कामना ही प्रतीत होती है और उस कामना का प्रधान कारण मनुष्य का अपने आपकी स्थिरता का विश्वास ही है, अतः मनुष्य को अपने तथा जगत् के बारे में सर्वदा यह भावना करनी चाहिये कि वह क्षणिक है या कुछ नहीं है, जगत् की कोई वस्तु स्थायी नहीं है, सारा संसार क्षणभङ्गुर या मिथ्या है। इस भावना के दृढ़ हो जाने पर उसे किसी वस्तु की कामना न होगी, कामना न होने पर वह भलेबुरे कर्मों से बचेगा, उसके पुण्य-पाप के आय का द्वार बन्द हो जायगा और फिर किसी प्रकार के दुःख की छाया भी उसे कभी न छू सकेगी। इस प्रकार आलोचन करने से यही सिद्ध होता है कि आत्मा के अपने आप के न होने का निश्चय ही मनुष्य के निर्दुःख या मुक्त होने का निश्चित उपाय है।

नैयायिक का अभिप्राय :—

हम सर्वदा बने रहें, किसी प्रकार का दुःख हमे कभी भी स्पर्श न करे, यह मनुष्य की नैसर्गिक इच्छा है, इसके विरुद्ध कोई व्यक्ति कुछ सोचना या करना नहीं चाहता, ऐसी स्थिति में अपने आपको अभावग्रस्त करने का उपदेश मानव-हृदय में कथमपि स्थान नहीं पा सकता, इसके अतिरिक्त आत्मा की नास्तिता, विश्व की क्षणिकता या भूठेपन का प्रमाण और तर्क समर्थन भी नहीं करते, इसलिये मनुष्य को जन्म, जरा आदि के दलदल से निकाल कर अपवर्ग के शुभासन पर प्रतिष्ठित करने का सच्चा उपाय श्रवण, मनन और निदिध्यासन-सततध्यान से सम्पन्न होने वाला देहादि से भिन्न नित्य आत्मा का प्रबल साक्षात्कार ही है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा सर्वथा नित्य और स्वभावतः निर्विकार है, उसमें ज्ञान, सुख आदि विशेष गुणों का उदय शरीर के सम्बन्ध से होता है. और यह सम्बन्ध तभी तक सम्भव है जब तक मनुष्य उसे शरीर आदि से अत्यन्त भिन्न नहीं समझ लेता, अतः मनुष्य को आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध को रोकने के लिये आत्मा देहादि से सर्वथा भिन्न है इस प्रकार का निर्मल निश्चय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये, यही उसके उत्कृष्ट कल्याण का एक कात्र मार्ग है।

जैन-शासन के प्रवर्तक महावीर स्वामी को बौद्धसम्मत क्षणिकता या नास्तिता अथवा न्यायसम्मत नित्यता से कोई द्वेष नहीं है, विभिन्न दृष्टियों से आत्मा के ये सभी धर्म सम्भव हैं।

विभिन्न विवेचकों द्वारा माने गये आत्मा के विभिन्न रूपों में यद्यपि किसी रूप की एकान्तता जैन-शासन को मान्य नहीं है तथापि एकान्तक्षणिकता का पक्ष न्याय-पक्ष की अपेक्षा मोक्षार्थी के अधिक प्रतिकूल पड़ता है अतः सर्वप्रथम उसका खण्डन यहां प्रस्तुत किया जायगा।

> **आत्मा न सिद्ध्यति यदि क्षणभङ्गबाधा-**
> **न्नैरात्म्यमाश्रयतु तद्भवदुक्तिबाह्यः ।**
> **व्यात्त्यग्रहात् प्रथमतः क्षणभङ्गभङ्गे**
> **शांकं स भूमिपतितोभयपाणिरेतु ॥ ४ ॥**

क्षणभङ्ग अर्थात् प्रत्येक भावात्मक वस्तु अपने जन्म के ठीक बाद वाले क्षण में ही नष्ट होती है, इस सिद्धान्त को सिद्ध करने वाले प्रमाण के विरोध से यदि ज्ञान से भिन्न और ज्ञान आदि गुणों का आधार द्रव्य-रूप नित्य आत्मा न सिद्ध हो तो बौद्ध का आप के उपदेश की अवहेलना कर अनात्मवाद का आश्रय लेना

उचित होगा, किन्तु यदि सत्त्व में क्षणिकत्व की व्याप्ति का ज्ञान न हो सकने के कारण क्षणभङ्ग की ही सिद्धि न हो तो पृथ्वी पर अपने दोनों हाथ पटक कर उसे शोकमग्न ही होना पड़ेगा।

बौद्ध विद्वान् समूचे विश्व को क्षणिक बतलाते हुए नित्य आत्मा की सत्ता नहीं स्वीकार करते और अपनी इस मान्यता के समर्थन में वे लोग यह अनुमान उपस्थित करते हैं—

जो सत् है वह क्षणिक होता है जैसे घट, पट— घड़ा, कपड़ा आदि पदार्थ सत् होते हुए क्षणिक हैं। इन पदार्थों की क्षणिकता भिन्न-भिन्न क्षणों में उनकी प्रतीयमान विलक्षणता के नाते मानी जाती है। उसी प्रकार शब्द आदि जगत् के सारे पदार्थ जो विभिन्न क्षणों में विलक्षण नहीं प्रतीत होते, वे भी सत् हैं अतः उन्हें भी क्षणिक मानना उचित है।

उक्त अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि घट आदि पदार्थों की क्षणिकता में कोई प्रमाण न होने के कारण जो सत् है वह सभी क्षणिक है इस व्याप्ति— नियम का निश्चय नहीं किया जा सकता, और इस नियम के अभाव में विश्व की क्षणिकता का समर्थन किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में अप्रामाणिक अनात्मवाद का सहारा लेकर संसाराभिमुख मार्ग पर बढ़ने वाले बौद्ध परिणाम में मुक्तिपथ से विचलित हो जाने का शोक छोड़ और कुछ नहीं पा सकते।

सामर्थ्यतद्विरहरूपविरुद्धधर्म-
संसर्गतो न च घटादिषु भेदसिद्धेः।
व्याप्तिग्रहस्तव परस्य यतः प्रसङ्ग-
व्यत्यासयोर्बहुविकल्पहतेरसिद्धिः ॥ ५ ॥

सामर्थ्य और तद्विरह— असामर्थ्य इन दो विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से पहले क्षण में रहने वाले घट आदि पदार्थों में दूसरे क्षण में रहने वाले घट आदि पदार्थों का भेद सिद्ध होता है। यह भेद पहले क्षण में विद्यमान वस्तु का दूसरे क्षण में विनाश माने विना सम्भव नहीं। इस प्रकार घट आदि पदार्थों में सत्ता और क्षणिकता के सहचार का दर्शन होने से "जो सत् है वह सभी क्षणिक है" इस व्याप्ति का निश्चय निर्वाध रूप से हो सकता है किन्तु हे भगवन्! तुम्हारी आज्ञा के बहिर्वर्ती बौद्ध का यह कथन ठीक नहीं क्योंकि क्षणिकता का मूलभूत भेद जिन विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से सिद्ध किया जाता है वे साधक प्रसङ्ग-तर्क और व्यत्यास— विपरीतानुमान के अनेक विकल्पों से व्याहत होने के कारण सिद्ध ही नहीं होते।

बौद्ध का आशयः—

इस प्रसङ्ग में बौद्ध का कहना यह है कि पहले और दूसरे क्षण में रहने वाले पदार्थों में विरुद्धधर्मों का अस्तित्व है, जैसे पहले क्षण का पदार्थ दूसरे क्षण में होने वाले कार्य के प्रति असमर्थ है और दूसरे क्षण का पदार्थ उसके प्रति समर्थ है। विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व एक में हो नहीं सकता इसलिए पहले क्षण के पदार्थ को दूसरे क्षण के पदार्थ से भिन्न मानना आवश्यक है। यदि पहले क्षण में रहनेवाला पदार्थ दूसरे क्षण में भी रहेगा तो वह स्वयं दूसरे क्षण का पदार्थ हो जाने से दूसरे क्षण में रहनेवाले पदार्थ से भिन्न न हो सकेगा अतः पहले क्षण के पदार्थ का दूसरे क्षण में नाश मानना अनिवार्य है। इस प्रकार प्रथम क्षण के घट आदि पदार्थों में क्षणिकता के साथ सत्ता के सद्भाव का ज्ञान होने से सत्ता में क्षणिकता की व्याप्ति का निश्चय होता है और इस व्याप्ति के बल से सत्ता हेतु से सारे विश्व में क्षणिकता की आनुमानिक सिद्धि होती है।

प्रथम क्षण के पदार्थ में द्वितीयक्षणस्थ पदार्थ के कार्य के प्रति असामर्थ्य की सिद्धि तर्क और विपरीतानुमान से होती है। इसे समझने के लिये कुसूलस्थ और क्षेत्रस्थ बीज के दृष्टान्त पर ध्यान देना चाहिये। कुसूलस्थ बीज में अङ्कुर के प्रति असमर्थता का साधन तर्क और विपरीतानुमान से होता है। जैसे—

तर्क—

कुसूल में स्थित बीज यदि अङ्कुर के प्रति समर्थ होता तो कुसूल में रहने के समय भी अंकुर को पैदा करता, जो जिस समय जिस कार्य के प्रति समर्थ होता है वह उस समय उस कार्य को पैदा करता है, जैसे खेत में बोया हुआ बीज अंकुर के प्रति समर्थ होने से अंकुर को पैदा करता है।

विपरीतानुमान—

कुसूल में स्थित बीज अंकुर के प्रति असमर्थ है क्योंकि वह अंकुर को नहीं पैदा करता, जो जिसको नहीं पैदा करता वह उसके प्रति असमर्थ होता है जैसे पत्थर का कण अंकुर को न पैदा करते हुए अंकुर के प्रति असमर्थ है।

इसी प्रकार प्रथम क्षण के बीज आदि पदार्थों में द्वितीय क्षणस्थ बीज आदि पदार्थों का वैधर्म्य सिद्ध करने के लिए तर्क और विपरीतानुमान का प्रयोग करना चाहिये। जैसे—

तर्क—

प्रथमक्षणस्थ बीज आदि पदार्थ यदि द्वितीय क्षण में होने वाले कार्य के प्रति समर्थ होते तो उसे प्रथम क्षण में ही करते, जो जिस क्षण में जिस कार्य के प्रति समर्थ होता है वह उस क्षण में उस कार्य को पैदा करता है। जैसे द्वितीय क्षणस्थ बीज आदि पदार्थ द्वितीय क्षण में होने वाले कार्य के प्रति समर्थ होने से उसे उस क्षणमें पैदा करते हैं।

विपरीतानुमान—

प्रथमक्षणस्थ बीज आदि पदार्थ द्वितीय-क्षण-भावी कार्य के प्रति असमर्थ हैं क्योंकि वे उसे नहीं करते, जो जिस कार्य को नहीं करता वह उसके प्रति असमर्थ होता है, जैसे सिकता के कण तेल नहीं पैदा करते हुये उसके प्रति असमर्थ हैं।

इस विचार में यह बात भी कही जा सकती है कि जो बीज कुसूल में रहने के समय अंकुर के प्रति असमर्थ है वहीं खेत में बोये जाने पर उसे पैदा करने में समर्थ हो जाता है। एवं पहले क्षण का बीज जो दूसरे क्षण के कार्यों के प्रति पहले क्षण में असमर्थ है वही दूसरे क्षण में उनके प्रति समर्थ हो जाता है, इस प्रकार समयभेद से सामर्थ्य और असामर्थ्य इन दोनों धर्मों का एक व्यक्ति में सन्निवेश हो सकता है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वस्तु का यह स्वभाव है कि जो प्रथमतः जिस कार्य में असमर्थ होता है वह बाद में भी उस कार्य में समर्थ नहीं हो पाता, जैसे केले का बीज आम का पौधा पैदा करने में प्रथमत: असमर्थ होने से सदैव उसमें असमर्थ ही रहता है, अत: यही मन्तव्य समुचित है कि अंकुर के प्रति असमर्थ कुसूलस्थ बीज अंकुर के प्रति समर्थ क्षेत्रस्थ बीज से एवं द्वितीयक्षणभावी कार्य के प्रति असमर्थ प्रथमक्षणस्थ पदार्थ उसके प्रति समर्थ द्वितीयक्षणस्थ पदार्थों से भिन्न तथा क्षणिक है।

बौद्धों के इस कथन के उत्तर में नैयायिक आदि का वक्तव्य यह है कि सामर्थ्य के स्वरूप के बारे में अनेकों विकल्प हैं जैसे— सामर्थ्य-कारणता के दो प्रकार हैं, फलोपधायकता और स्वरूपयोग्यता। फलोपधायकता के दूसरे नाम करण या कारित्व भी हैं, उसकी परिभाषा है—अपने कार्य के ठीक पहले क्षण में उसके जन्मस्थान में कारण की विद्यमानता। स्वरूपयोग्यता के दो भेद हैं सहकारियोग्यता और स्वरूपयोग्यता। सहकारियोग्यता का अर्थ है—सहकारी कारणों के साथ अपने कार्य के ठीक पहले क्षण में उसके जन्मस्थान में कारण का विद्यमान होना। स्वरूपयोग्यता के तीन भेद हैं— कारणतावच्छेदकधर्म, कुर्वद्रूपत्व और सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाव। कारणतावच्छेदकधर्म का अर्थ

है कारणता का समनियत अर्थात् कारणताशून्य स्थानों में न रह कर कारणता के सभी स्थानों में रहने वाला धर्म, जैसे अंकुरकारणता का अवच्छेदक बीजत्व एवं घटकारणता का अवच्छेदक दण्डत्व आदि। कुर्वद्रूपत्व का अर्थ है—कार्य को जन्म देने वाले कारणव्यक्तियों में ही रहने वाला एक विशेष धर्म। और तीसरे का अर्थ है - सहकारी कारण का सान्निध्य न होने के नाते कार्य का जनन न करना। इस प्रकार सामर्थ्य के पांच भेद हैं, इनमें से एक भी विचार की कसौटी पर सत्य नहीं उतरता, यह बात आगे की कारिका की व्याख्या में स्पष्ट की जायगी।

सामर्थ्यमत्र यदि नाम फलोपधान-
मापाद्यसाध्यविभिदाविरहस्तदानीम्।
इष्टप्रसिद्ध्यनुभवोपगमस्वभाव-
व्याघात इच्छति परो यदि योग्यतां च ॥

प्रस्तुत तर्क और विपरीतानुमान में बौद्ध यदि सामर्थ्य शब्द से फलोपधायकता को लेना चाहता है तो आपाद्य और आपादक तथा साध्य और साधन के परस्पर-भेद का लोप एवं यदि स्वरूप-योग्यता को ग्रहण करना चाहता है तो इष्टप्रसिद्धि—सिद्धसाधन, अनुभव - साध्यबाधक-निश्चय, उपगम—प्रतिकूल-मान्यता और स्वभाव अर्थात् स्वरूप के द्वारा उक्त तर्क और विपरीतानुमान का व्याघात प्राप्त होता है।

पूर्व कारिका की व्याख्या में जिस तर्क का वर्णन किया गया है उसमें सामर्थ्य आपादक है और जिस विपरीतानुमान का उल्लेख किया गया है उसमें असामर्थ्य साध्य है।

इस विचार में बौद्ध द्वारा प्रयुक्त सामर्थ्य यदि फलोपधायकता—रूप माना जाय तो आपाद्य और आपादक के परस्पर भेद का विलोप होने से तर्क का एवं साध्य और हेतु के पारस्परिक भेद का लोप होने से विपरीतानुमान का व्याघात होगा क्योंकि तर्क के लिये आपादक को आपाद्य से भिन्न होना एवं अनुमान के लिये हेतु को साध्य से भिन्न होना आवश्यक है, और यदि सामर्थ्य स्वरूपयोग्यतारूप माना जाय तो उसके कथित चार प्रकारों में से पहले (सहकारियोग्यता) को लेने पर विपरीतानुमान में सिद्धसाधन होगा क्योंकि उसका साध्य-सहकारियोग्यता का अभाव—कुसूलस्थ बीज में सिद्ध है। दूसरे (कारणतावच्छेदकधर्म) को लेने पर अनुभव — पक्ष में साध्यबाध के प्रात्यक्षिक अनुभव — से विपरीतानुमान का व्याघात होगा क्योंकि साध्य—कारणतावच्छेदकाभाव अर्थात् बीजत्वाभाव का अभाव बीजत्व—अङ्कुर को न पैदा करने वाले कुसूलस्थ बीज में प्रत्यक्ष देखा जाता है।

तीसरे (कुर्वद्रूपत्व) को सामर्थ्य शब्द से ग्रहण करने पर स्थैर्यवादी की प्रतिकूल मान्यता से तर्क और विपरीतानुमान इन दोनों की प्रवृत्ति न होगी। तात्पर्य यह है कि बौद्ध यद्यपि कुर्वद्रूपत्व की सत्ता मानते हैं पर उचित प्रमाण न होने के कारण नैयायिक उसे नहीं मानते अतः उनके मत से दृष्टान्त—क्षेत्रस्थ बीज—में उसका ज्ञान न हो सकने से आपादक की असिद्धि होने के नाते तर्क का एवं न्यायमत में अलीक का अभाव न माने जाने के कारण कुर्वद्रूपत्वाभाव-रूप साध्य की असिद्धि होने से विपरीतानुमान का व्याघात होगा।

कुर्वद्रूपत्व के साधनार्थ बौद्ध का एक प्रयास—

वस्तु के दो स्वभाव प्राप्त होते हैं—अक्षेपकारित्व शीघ्रकारित्व और क्षेपकारित्व-बिलम्बकारित्व। इनमें से दूसरे को वस्तुस्वभाव के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि स्वभाव अपने आधारव्यक्ति का परित्याग कभी नहीं करता अतः वस्तु के अन्तिम क्षण तक उसकी विलम्बकारिता बनी ही रहेगी, फलतः उसका कार्य कभी भी उत्पन्न न हो सकेगा, अत एव शीघ्रकारित्व को ही वस्तु का स्वभाव मानना होगा। इस स्वभाव की सिद्धि के लिये निम्न तर्क और विपरीतानुमान का आश्रय लेना चाहिये।

तर्क—

बीज यदि शीघ्र ही अर्थात् पैदा होते ही अङ्कुर का उत्पादक न होगा तो अङ्कुर को कदापि पैदा न कर सकेगा क्योंकि जो जिस कार्य को शीघ्र ही नही कर डालता वह उसे कभी नहीं कर पाता जैसे धूल का कण शीघ्र अर्थात् पैदा होते ही अङ्कुर का उत्पादक नहीं होता अतः उसे कभी भी नहीं पैदा करता।

विपरीतानुमान—

बीज अङ्कुर के प्रति शीघ्रकारी है क्योंकि वह अङ्कुर को पैदा करता है।

इस प्रकार बीज आदि वस्तुओं का शीघ्रकारित्व स्वभाव सिद्ध होता है। यह स्वभाव बीजसामान्य को अङ्कुर का कारण मानने पर नहीं उपपन्न होता क्योंकि कुसूलस्थ बीज अबिलम्बेन अङ्कुर का जनन नहीं करता, इसलिये अङ्कुरकुर्वद्रूपत्व जिन बीजों में रहता है उन्हीं को अङ्कुर का कारण मानना होगा और वह अविलम्बेन अङ्कुर को पैदा करने वाले क्षेत्रस्थ बीजों में ही माना जायगा, इस प्रकार उक्त स्वभाव के नियामकरूप में कुर्वद्रूपत्व की सिद्धि होगी।

इस बौद्ध विचार के खण्डन का प्रकार यह है—

जिस तर्क और विपरीतानुमान के बल से शीघ्रकारित्व - स्वभाव का साधन बौद्धों ने करना चाहा है वह अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त है, क्योंकि कथित तर्क में उक्त स्वभाव का अभाव आपादक एवं विपरीतानुमान में उक्त स्वभाव साध्य है अतः उन दोनों के लिये उक्त स्वभाव की सिद्धि अपेक्षित है और उसकी सिद्धि के लिये वे तर्क और विपरीतानुमान अपेक्षित हैं। इसलिये सहकारी कारणों का सन्निधान होते ही कार्य को उत्पन्न करना और उनका सन्निधान न होने तक कार्य को उत्पन्न न करना इस प्रकार के शीघ्रकारित्व और बिलम्बकारित्व इन दोनों को ही वस्तु का स्वभाव मानना चाहिये और इस प्रकार के स्वभाव के लिये कुर्वद्रूपत्व की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि बीजसामान्य को अङ्कुर का कारण मानने ही पर उक्त स्वभाव की उपपत्ति होती है।

चौथे सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाव अर्थात् सहकारी का सन्निधान न होने के कारण कार्य की अनुत्पादकता को सामर्थ्यशब्द से ग्रहण करने पर तर्क का स्वरूप यह होगा— कुसूलस्थ बीज यदि सहकारी के असन्निधान के नाते अङ्कुर का अनुत्पादक हो तो उसके असन्निधान में ही अङ्कुर को पैदा करे। किन्तु इसमें स्वरूपव्याघात स्पष्ट है, क्योंकि सहकारी के असन्निधान के कारण ही होने वाली अङ्कुर की अनुत्पादकता अपने विघातक सहकारी के असन्निधान में अंकुर की उत्पादकता का आपादन नहीं कर सकती।

न त्वद्द्रुहो भवति चेप्सितसाध्यसिद्धि-
र्मुख्यात् समर्थविषयव्यवहारतोऽपि ।
भूम्ना स जन्मविषयोऽपि हि योग्यतोत्थो
व्याप्तिस्त हेतुसहकारिविशेषलभ्या ॥ ७ ॥

भगवन्! आपका द्रोही बौद्ध जिस साध्य का साधन करना चाहता है उसकी सिद्धि मुख्य समर्थव्यवहार के द्वारा भी नहीं हो सकती क्योंकि कार्यकारिता-कार्य की उत्पादकता — की व्याप्ति सहकारि वर्ग से युक्त हेतु में ही होती है न कि मुख्य समर्थव्यवहार पें, क्योंकि वह व्यवहार बाहुल्येन कार्य — जन्म को ही विषय करने पर भी स्वरूपयोग्यता से ही उत्थित होता है।

जैनशासन के प्रवर्तक महापुरुष ने वस्तु का वास्तविक स्वरूप निश्चय करने के लिये जिस स्याद्वाद का अभ्युपगम किया है। उसके अङ्गभूत नय-दृष्टिभेद अनेक हैं। उन सभी नयों के सहारे वस्तु का स्वरूप स्थिर करने वाले विद्वान् उस महापुरुष के आत्मीय माने जाते हैं और जो उनमें किसी एक ही नय पर निर्भर हो वस्तु का विचार एवं उसके स्वरूप का अवधारण करते हैं

वे उसके द्वेषी कहे जाते हैं। बौद्ध अन्य नयों की उपेक्षा कर केवल सूक्ष्म ऋजु-सूत्र के ही आधार पर वस्तुस्वरूप का विचार करता है, अतः उसे यहाँ उस महापुरुष का द्रोही कहा गया है।

बौद्ध के जिस वक्तव्य और खण्डन का उल्लेख इस श्लोक में है वह नीचे उपन्यस्त किया जा रहा है—

बौद्ध का वक्तव्य—

क्षेत्रस्थ बीज में "वह अङ्कुर के प्रति समर्थ है" ऐसा मुख्य व्यवहार होता है और कुसूलस्थ बीज में उसका अभाव है, अतः वे दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। कुसूलस्थ बीज में उक्त व्यवहार के अभाव का साधन करने वाले तर्क और विपरीतानुमान इस प्रकार हैं—

तर्क—

कुसूलस्थ बीज में यदि अङ्कुर के प्रति समर्थ होने का व्यवहार होता तो वह कुसूल में रहते भी उसे उत्पन्न करता, क्योंकि जिस पदार्थ में जिस समय जिस कार्य के प्रति समर्थता का व्यवहार होता है वह उस समय उसे उत्पन्न करता है, क्षेत्रस्थ बीज में क्षेत्रस्थितिदशा में अङ्कुर के प्रति समर्थता का व्यवहार होता है और वह उस दशा में अङ्कुर को उत्पन्न करता है।

विपरीतानुमान—

कुसूलस्थ बीज में अंकुर के प्रति समर्थता के व्यवहार का अभाव है क्योंकि वह कूसूल में रहने के समय अंकुर को नहीं उत्पन्न करता, जो जिस कार्य को नहीं उत्पन्न करता उसमें उस कार्य के प्रति समर्थता के व्यवहार का अभाव होता है जैसे सिकता में तेल की उत्पादकता न होने से उसके प्रति समर्थता के व्यवहार का अभाव है।

उक्त वक्तव्य का खण्डन—

यद्यपि किसी कार्य के प्रति समर्थता का व्यवहार उस कार्य के उत्पादक में ही अधिकतर होता है तथापि उस व्यवहार का कारण कार्य की उत्पादकता न होकर उसकी स्वरूपयोग्यता ही है, अतः कुसूलस्थ बीज में अंकुर के प्रति समर्थता का मुख्य व्यवहार अवश्यमेव मान्य है क्योंकि उसमें अंकुर की स्वरूप-योग्यता विद्यमान है। ऐसी स्थिति में कुसूलस्थ बीज में अंकुर-समर्थता के व्यवहार से अङ्कुर को न पैदा करनेवाले कुसूलस्थ बीज में उक्त व्यवहार के होने से उस व्यवहार में अङ्कुरोत्पादकता की व्याप्ति नहीं है और व्याप्तिहीन आपादक से तर्क का उद्भव नहीं होता। अङ्कुरोत्पादकता की व्याप्ति सहकारिवर्ग

से युक्त बीज आदि कारणों ही में है। कुसूलस्थ बीज सहकारिवर्ग से युक्त नहीं है, अतः उसमें अङ्कुर की उत्पादकता कथमपि नहीं प्रसक्त हो सकती, इस प्रकार तर्क का अवतरण निरुद्ध हो जाने से तन्मूलक उक्त विपरीतानुमान भी नहीं हो सकता। फलतः कुसूलस्थ बीज में अङ्कुर के प्रति समर्थता के व्यवहार का अभाव न सिद्ध हो सकने से उसमें क्षेत्रस्थ बीज का भेद नहीं प्रमाणित किया जा सकता।

एतावतैव हि परप्रकृतप्रसङ्ग
भङ्गन सिद्ध्यति कथाश्रितपूर्वरूपम्।
शिष्यैर्विधेयमुचितं विशदस्वभाव-
प्रश्नोत्तरं तु तव देव! नयप्रमाणैः॥ ८॥

समर्थव्यवहार में कार्यकारिता की व्याप्ति नहीं है इतना प्रतिपादन कर देने मात्र से ही पूर्व पक्ष में बौद्धद्वारा उपस्थित किये गये तर्कका खण्डन हो जाने से यद्यपि कथा का पूर्वरूप सम्पन्न हो जाता है, तथापि प्रतिवादी के जिज्ञासु भाव से वस्तु-स्वभाव के बारे में प्रश्न करने पर, हे भगवन्! तुम्हारे शिष्यों को समस्त नय रूप प्रमाणों के द्वारा उस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना ही चाहिये।

किसी वस्तु के विषय में सन्देह या विवाद खड़ा हो जाने पर उसके तात्त्विक रूप का निश्चय करने या पर-पक्ष का खण्डन कर प्रतिवादी के ऊपर विजय प्राप्त करने की इच्छा से विद्वानों के बीच जो विचारविनियम होता है उसे कथा कहा जाता है, उसके तीन भेद होते हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। वाद का उद्देश्य विजय-प्राप्ति न होकर तत्त्वनिर्णय मात्र ही होता है, अतः यह गुरु-शिष्य या दो मित्रों में ही होता है। जल्प के तत्त्वनिर्णय और विजय इन दोनों में से एक या दोनों ही उद्देश्य हो सकते हैं, वितण्डा में अपने पक्ष की स्थापना नहीं होती किन्तु पर-पक्ष के खण्डन की ही प्रधानता रहती है।

इस श्लोक में कथा शब्द से जल्प ही उपात्त किया गया है, क्योंकि अपने अभिमत पक्ष की स्थापना और विरुद्धपक्ष का खण्डन ये दोनों बातें इस कथा में सामिल हैं, इस जल्पात्मक कथा का पूर्व रूप है पर-पक्ष का खण्डन और उत्तर रूप है अपने पक्ष का समर्थन, यहां जिस विचार की चर्चा चल रही है उसमें बौद्ध से उपस्थित किया गया विश्व की क्षणिकता का पक्ष पर-पक्ष है और स्थिरता या उभयरूपता का पक्ष निजी पक्ष है।

बौद्ध ने सामर्थ्य तथा समर्थ व्यवहार इन दो हेतुओं से कुसूलस्थ बीज में अङ्कुरकारिता का आपादन करने वाले तर्क का सहारा ले तन्मूलक

विपरीतानुमान से असामर्थ्य का साधन कर उसे अङ्कुरजनन में समर्थ क्षेत्रस्थ बीज से भिन्न सिद्ध करने की जो चेष्टा की थी उसका निराकरण सामर्थ्य की दुर्वचता और समर्थव्यवहार की व्याप्तिहीनता बताकर स्थैर्यवादियों ने किया उसके फलस्वरूप बौद्ध के साथ चलती स्थैर्यवादी की कथा का पूर्व रूप सम्पन्न हुआ और इस समय स्थैर्यवादी का इतना ही लक्ष्य होने के कारण इतना हो जाने से वह अपने दायित्व से मुक्त हो गया।

परपक्ष का खण्डन कर देने से वादी को विश्राम लेने का अवसर प्राप्त होने पर भी यदि पूर्वपक्षवादी विजय की विफल कामना का परित्याग कर विनीत भाव से प्रस्तुत विषय के बारे में उससे कुछ पूछ देता है तो उसका कर्तव्य बढ़ जाता है और उसे उस प्रश्न का समुचित उत्तर देना ही पड़ता है। इसी नियम के अनुसार प्रकृत अक्षेपकारित्व और क्षेपकारित्व इन दो धर्मों में से किसे वस्तु-स्वभाव के रूप से स्वीकार करना चाहिये ? बौद्ध के इस प्रश्न का उत्तर स्थैर्यवादी नैयायिक एवं जैन को देना है।

बौद्ध के प्रश्न पर न्यायमतानुसार वस्तुस्वभाव का निरूपण—

अक्षेपकारित्व जिसके दूसरे नाम शीघ्रकारित्व और अविलम्बकारित्व भी हैं, उसके ये दो रूप प्राप्त होते हैं। (१) अपनी उत्पत्ति के ठीक बाद वाले क्षण में ही अपने समस्त कार्यों को कर देना। (२) सहकारियों का सन्निधान होने के क्रम के अनुसार अपने विभिन्न कार्यों को क्रम से करना। इसी प्रकार क्षेपकारित्व जिसका दूसरा नाम विलम्बकारित्व है, उसके भी दो रूप प्राप्त होते हैं। (१) सहकारियों का सन्निधान न होने तक कार्य को न उत्पन्न करना। (२) कभी भी किसी कार्य को न उत्पन्न करना।

इस प्रकार वस्तु के चतुर्विध स्वभाव प्राप्त हैं, इनमें अक्षेपकारित्व का पहला प्रकार या क्षेपकारित्व का दूसरा प्रकार वस्तु-स्वभाव के रूप में कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपनी उत्पत्ति के ठीक बाद ही अपने सभी कार्य कर देती है अथवा जगत् में कोई ऐसी भी वस्तु है जो कभी भी कोई कार्य नहीं उत्पन्न करती, इन दोनों बातों को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है, अतः अक्षेपकारित्व के दूसरे प्रकार एवं क्षेपकारित्व के प्रथम प्रकार को ही वस्तु-स्वभावता प्राप्त होती है, इस स्थिति में अक्षेपकारित्व शब्द का दूसरा अर्थ लेने पर अक्षेपकारित्व ही वस्तु का स्वभाव माना जायगा, एवं क्षेपकारित्व शब्द से उसके कथित दो रूपों में से पहले को ग्रहण करने पर क्षेपकारित्व ही वस्तु का स्वभाव माना जायगा।

फलतः असन्दिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि अक्षेपकारित्व और क्षेपकारित्व ये दोनों ही वस्तु के स्वभाव हैं।

ऐसा मानने पर यहाँ यह शङ्का उठ सकती है कि स्वभाव अपने आश्रय को कभी नहीं छोड़ता, यह एक सुप्रसिद्ध नियम है। अतः वस्तु के उक्त दो स्वभाव मानने पर उन दोनों स्वभावों का प्रत्येक वस्तु में सर्वदा सद्भाव मानना होगा, पर यह सम्भव नहीं है। क्योंकि सहकारियों का सन्निधान और असन्निधान ये दोनों एक दूसरे का विरोधी होने के कारण एक वस्तु में एक ही समय नहीं हो सकते। अतः उनसे नियन्त्रित उक्त दोनों स्वभाव भी एक साथ नहीं रह सकते। इसलिये उन्हें वस्तु का स्वभाव मानना असङ्गत है।

परन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि स्वभाव वस्तु का एक धर्म है जो अपने आश्रय में रहता हुआ भी उससे सर्वथा भिन्न है। अतः आश्रय के रहते भी उसका न रहना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध के उक्त प्रश्न का न्याय-दृष्टि से यह जो उत्तर दिया गया है वह वस्तु की स्थिरता-पक्ष मात्र में अवधारणात्मक होने के कारण जैनशासन की दृष्टि से कथा के पूर्वरूप ही में समाविष्ट हो जाता है। अतः कथा के वास्तविक उत्तर रूप को स्याद्वाद के आधार पर ही स्थिर करना होगा। जिसके फलस्वरूप क्षणिकता और स्थिरता इन दोनों को ही दृष्टिभेद से वस्तु का धर्म मानना होगा।

स्याद्वादनाम्नि तव दिग्विजयप्रवृत्ते
सेनापतौ जिनपते ? नयसार्वभौम ?
नश्यन्ति तर्कनिवहाः किमु नाम नेष्टा-
पत्तिप्रभूतबलपत्तिपदप्रचारात् ॥ ९ ॥

हे जिनेश्वर ! तुम समस्त नयों के सम्राट् हो, तुम्हारा सेनापति स्याद्वाद निन्द्य नयों के कुसंस्कार रूपी दुर्गों में निर्भय निवास करनेवाले महान् अज्ञान का विनाश करने के उद्देश्य से जिस समय दिग्विजय की यात्रा आरम्भ करता है क्या उसी समय तुम्हारे विरोधी विभिन्न शास्त्रों के सभी तर्क तुम्हारी इष्टापत्ति आदि बलवती सेना के सञ्चार मात्र से ही नष्ट नहीं हो जाते ?

जैनशास्त्र में वस्तुस्वरूप का परीक्षण किं वा निर्धारण करने के लिये स्याद्वाद की मान्यता स्वीकृत की गयी है। दूसरे प्रमाणों से इसकी विशेषता यही है कि जहाँ दूसरे प्रमाण परस्पर विरोधी धर्मों में से किसी एक ही का अस्तित्व एक वस्तु में सिद्ध करते हैं वहाँ यह एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का अस्तित्व सिद्ध करता है। यही कारण है कि अन्य शास्त्रों के तर्क

और विपरीतानुमान जैनशास्त्र का विरोध नहीं कर पाते। क्योंकि वे वस्तु के जिस जिस रूप का साधन करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। वे सभी स्याद्वाद के आधार पर दृष्टि भेद से जैनशासन में स्वीकृत कर लिये जाते हैं। प्रकृत में जो विचार चल रहा है और जिसमें विश्व की क्षणिकता सिद्ध करने का बौद्धप्रयास और स्थिरता सिद्ध करने का नैयायिकप्रयास इन दोनों का सम्मिलन है, उसमें जैन शासन हस्तक्षेप करके दृष्टिभेद से उन दोनों धर्मों के अस्तित्व का समर्थन कर अविरोध स्थापित कर देता है और उसके इस प्रयत्न का विरोध बौद्ध या नैयायिक नहीं कर पाते, क्योंकि यह अपनी योग्यता से उन दोनों का समादर कर उनके सम्मान का अधिकारी बन जाता है। हाँ, जब शुद्ध द्रव्य में क्षणिकता के साधनार्थ बौद्ध और प्रतिक्षण आगमापायी अनेक पर्यायों से विशिष्ट द्रव्य में स्थिरता के साधनार्थ नैयायिक प्रयास करते लगते हैं तब प्रमाणाभाव और अनुभवविरोध आदि बता कर जैन शासन उन प्रयासों को व्यर्थ कर देता है, अतः जैन शासन ही अन्य सभी शास्त्रों पर विजय और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

जात्यन्तरेण मिलिते न विभो ? समर्थे
क्षेपो न युज्यत इति क्षणिकत्वसिद्धिः।
जात्यन्तराननुभवादपि न प्रवृत्तिः
सामान्यतो हि घटते फलहेतुभावात् ॥ १० ॥

"समर्थ कारण अपने कार्य को पैदा करने में बिलम्ब नहीं करता" इस नियम के अनुसार अङ्कुर को पैदा करने वाले बीजों में ही अंकुरसामर्थ्य मानना पड़ता है और उसके नियमनार्थ उनमें कुर्वद्रूपत्व नाम का जात्यन्तर भी मानना आवश्यक होता है। परन्तु यह बात उस जात्यन्तर से युक्त व्यक्तियों को क्षणिक माने विना नहीं उपपन्न हो सकती अतः उन्हें क्षणिक मानना परमावश्यक हो जाता है, इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की क्षणिकताका साधन बौद्ध करते हैं, पर हे प्रभो ? क्षणिकता के साधन का उनका यह मार्ग युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि अङ्कुर पैदा करने वाले बीजों में प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा उस जात्यन्तर का अनुभव नहीं होता, इसके अतिरिक्त उस जाति से युक्त बीजों को ही अङ्कुर का कारण मानने पर अङ्कुर पैदा करने की इच्छा वाले कृषक की कुसूलस्थित बीज जो उस जाति से शून्य होने के नाते अङ्कुर के कारण नहीं कहे जा सकते उनके संरक्षण-एवं वपन में प्रवृत्ति न होगी, क्योंकि "जिस वस्तु की इच्छा मनुष्य को होती है उसकी कारणताका ज्ञान जिसमें होता है उसी के ग्रहण और संरक्षण में उसकी प्रवृत्ति होती है" यह नियम है। इसलिये

बीज सामान्य में अङ्कुरार्थी कृषक की प्रवृत्ति के उपपादनार्थ बीजसामान्य को अङ्कुर का कारण मानना आवश्यक है।

बौद्ध का वक्तव्य—

संसार में दो प्रकार के बीज पाये जाते हैं, एक सहकारियों से युक्त और दूसरे उनसे वियुक्त। कुसूल आदि रक्षास्थानों में रखे हुए बीज सहकारियों से वियुक्त रहते हैं और क्षेत्र में बोये हुये बीज उनसे युक्त होते हैं। अङ्कुर के जनन का सामर्थ्य सहकारियुक्त बीजों में ही मानना उचित है न कि सहकारि-वियुक्त बीजों में, क्योंकि उन्हें यदि अङ्कुर के प्रति समर्थ माना जायगा और अङ्कुर का उत्पादक न माना जायगा तो 'समर्थ कारण अपना कार्य करने में विलम्ब नहीं करता" इस नियम का विरोध होगा. और यदि उन्हें अङ्कुर का उत्पादक मान लिया जायगा तो सहकारियों के विना ही कार्यका जन्म हो जानेसे उनकी कारणता का भङ्ग होगा।

सहकारियों के सन्निधान के लिये भी यह नियम मानना आवश्यक है कि वह अङ्कुर के प्रति असमर्थ वस्तुवों में नही होता, यदि उसे असमर्थ वस्तु में भी माना जायगा और अङ्कुर की उत्पत्ति न मानी जायगी तो सहकारियों की कारणता का भङ्ग होगा क्योंकि सामर्थ्यशाली सहकारियों के होते हुए भी अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती, और यदि अङ्कुर की उत्पत्ति मान ली जायगी तो बीज की कारणता की हानि होगी क्योंकि उसके विना भी अङ्कुर की उत्पत्ति हो जाती है।

इसी प्रकार यह भी नियम मानना होगा कि अङ्कुर के प्रति समर्थ बीज कभी भी सहकारियों से असन्निहित नहीं होता, क्योंकि यदि समर्थ बीज को भी सहकारियों से असन्निहित माना जायगा और अङ्कुर की उत्पत्ति न मानी जायगी तो समर्थ कारण अपने कार्य को पैदा करने में विलम्ब नहीं करता इस नियम का विघात होगा और यदि अंकुर की उत्पत्ति मान ली जायगी तो सहकारियों की कारणता का भङ्ग होगा क्योंकि उनके बिना भी अंकुर की उत्पत्ति हो आती है।

अङ्कुरसमर्थ बीज सहकारियों से युक्त ही होते हैं, यह जो बात माननी पड़ती है उसकी उपपत्ति बीजत्वरूप से सभी बीजोंको अङ्कुर का कारण मानने पर नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा मानने पर कारण की ही समर्थ संज्ञा होने के नाते कुसूलस्थित बीज समर्थ की श्रेणी में आ जायगा जो कुसूल में रहते समय सहकारियों से असन्निहित होने के कारण अङ्कुर को नहीं पैदा करता, अतः अङ्कुर को पैदा करने वाले सहकारियों से युक्त बीजों में कुर्वद्रूपत्व नाम की

जाति मानकर उस रूप से ही बीज को अङ्कुर के प्रति कारण मानना उचित है।

उस कुर्वद्रूपत्व से युक्त बीज को क्षणिक मानना होगा अन्यथा यदि उसे स्थायी माना जायगा तो अपनी स्थिति के सभी क्षणों में अङ्कुर का जनन न करने के कारण उसे सहकारी से असन्निहित भी मानना होगा। और ऐसा मानने से समर्थकारण अपना कार्य करने में विलम्ब नहीं करता इस नियम का विघात कुर्वद्रूपत्व की कल्पना से भी न रोका जा सकेगा।

इसलिये ऊपर लिखी गयी बातों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कुर्वद्रूपत्व से युक्त बीज ही अङ्कुर का कारण है तथा वह सहकारियों से युक्त और क्षणिक है। कुर्वद्रूपत्व के विषय में बौद्ध और नैयायिकों के मतों में भेद इतना ही कहा जा सकता है कि बौद्ध के मत में वह अपोह-अतद्व्यावृत्ति-रूप होने से अभावात्मक है और नैयायिक के मत में भावात्मक।

उक्त वक्तव्य का खण्डन—

कुर्वद्रूपत्व के बल से बीज आदि वस्तुओं की क्षणिकता का साधन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह स्वयं प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं सिद्ध होता। उसकी अप्रत्यक्षता तो तद्विषयक विवाद से ही सिद्ध है और अनेक दोषों से ग्रस्त होने के कारण अनुमान भी उसके साधन में असमर्थ है क्योंकि अनुमान में उसे पक्ष करने पर आश्रयासिद्धि और साध्य करने पर व्याप्यत्वासिद्धि होगी। इसके अतिरिक्त उसकी सिद्धि में दूसरा बाधक यह है कि यदि कूर्वद्रूपत्व से युक्त बीजों को ही अङ्कुर का कारण माना जायगा और उसकी सत्ता सहकारियों से असन्निहित बीजों में न मानी जायगी तो कुसूल आदि स्थानों में रखे हुए बीज अङ्कुर के कारण न होंगे, फलतः उनमें अङ्कुर की कारणता का ज्ञान न हो सकने से अङ्कुरार्थी कृषक की उनके ग्रहण और संरक्षण में प्रवृत्ति न होगी क्योंकि प्रवृत्ति के प्रति इष्ट वस्तु की कारणता का ज्ञान आवश्यक माना गया है। अतः सहकारि-शून्य बीजादि के संरक्षण में प्रवृत्ति के उपादनार्थ बीजसामान्य को अङ्कुर के प्रति कारण मानना उचित है। इस प्रकार की कारणता मानने में यह जो बाधक बताया गया था कि ऐसा मानने पर समर्थकारण अपने कार्य को करने में विलम्ब नहीं किया करता—इस नियम का विघात होगा, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त नियम वाक्यमें आये हुए समर्थ शब्द का अर्थ सहकारिसम्पन्न है।

अतः नियम का आकार यह होता है कि सहकारी कारणों से युक्त कारण अपने कार्य के जनन में बिलम्ब नहीं करता, और इसकी उपपत्ति बीजसामान्य को

कारण मानने के पक्ष में भी हो जाती है। इसलिये अप्रामाणिक कुर्वद्रूपत्व की कल्पना कर उस रूपसे बीज को अङ्कुर के प्रति कारण मानने का आग्रह स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कुर्वद्रूपत्व की सत्ता प्रमाणित न हो सकने पर उसके बल से मानी जाने वाली क्षणिकता का भी अवसर जाता रहता है।

संग्राहकेतरविकल्पहतिश्च तत्र
व्यक्तौ विरोधगमने व्यवहारबाधः।
व्यावृत्तयोऽप्यनुहरन्ति निजं स्वभाव-
माकस्मिकव्यसनिता द्विषतां तवाहो ॥ ११ ॥

अङ्कुर की उत्पादकता का नियामक कुर्वद्रूपत्व यवत्व का सङ्ग्राहक-व्यापक है अर्थात् सभी यवबीजों में रहता है, अथवा उसका संग्राहकेतर-विरोधी है अर्थात् किसी यवबीज में नहीं रहता, इस प्रकार के संग्राहक और प्रतिक्षेपक सम्बन्धी विकल्पों से कुर्वद्रूपत्व नाम की काल्पनिक जाति का बाध होगा, क्योंकि पहले विकल्प में अङ्कुर न पैदा करने वाले यवबीजों में भी उसकी प्रसक्ति और दूसरे विकल्प में अङ्कुर पैदा करने वाले यवबीजों से भी उसकी निवृत्ति हो जायगी।

यदि सभी यवबीजों में उसका विरोध न मान कर अङ्कुरानुत्पादक यवबीजों में ही उसका विरोध एवं सभी यवबीजों में उसकी व्यापकता न मानकर अङ्कुरोत्पादक यवबीजों में ही उसकी व्यापकता स्वीकार करके कुर्वद्रूपत्व की संग्राहकता और विरोधिता दोनों ही मान ली जायगी तो परस्परव्यभिचारी जातियों में भी इस न्याय का संचार सम्भव हो सकने के नाते किसी अदृष्ट व्यक्ति में गोत्व और अश्वत्व के भी सहभाव की सम्भावना से उनके सर्वजन-प्रसिद्ध सर्वाश्रयव्यापी विरोधव्यवहार का लोप होगा, क्योंकि उक्त प्रकार से दो जातियों में परस्पर की संग्राहकता और प्रतिक्षेपकता स्वीकार कर लेने पर 'परस्परव्यभिचारी जातियों का सहभाव नहीं होता' इस नियम का परित्याग हो जाता है।

परस्परव्यभिचार होने पर एक आश्रय में न रहना यह स्वभाव जातियों का ही न होकर जाति के प्रतिनिधिरूप में बौद्धकल्पित अतद्व्यावृत्तियों का भी है, अतः अतद्व्यावृत्तिरूप कुर्वद्रूपत्व की कल्पना भी उक्त विकल्पों से बाधित होगी।

हे भगवन्! यह बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि तुम्हारे द्वेषी बौद्ध कुर्वद्रूपत्व की कल्पना के उस अनुचित पक्ष का आग्रह नहीं छोड़ते जिसमें अङ्कुर आदि सामान्य कार्यों का जन्म आकस्मिक अर्थात् अव्यवस्थित हो जाता है।

बौद्ध जिस अङ्कुरकुर्वद्रूपत्व की कल्पना अङ्कुरकारी बीजों में करते हैं, उसके सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न उठता है कि शालि, यव आदि बीजों की जो शालित्व, यवत्व आदि जातियाँ हैं उनका वह व्यापक है अर्थात् शालि, यव आदि के सारे बीजों में रहता है ? अथवा उन जातियों का विरोधी है अर्थात् उन जातियों के किसी आश्रय में नहीं रहता है ? पहले पक्ष में अङ्कुर न पैदा करने वाले बीजों में भी उसका अस्तित्व हो जाने से उसे अङ्कुरजनकता का नियामक नहीं माना जा सकेगा और दूसरे पक्ष में किसी भी बीज में उसका अस्तित्व न होने के कारण सहकारी कारणों से सन्निहित बीज से भी अङ्कुर का जनन न हो सकेगा, और यदि होगा तो उसे अङ्कुरजनकता की नियामकता न हो सकेगी, एवं उसकी शून्यता क्षेत्रस्थ और कुसूलस्थ दोनों बीजों में समानरूप से होने के कारण दोनों ही से अङ्कुर के जनन या अङ्कुर के अजनन की प्रसक्ति होगी।

कुर्वद्रूपत्व में शालित्व आदि जातियों की व्यापकता तथा विरोधिता के विषय में जिस प्रकार के प्रश्न का उत्थान बताया गया है वैसा ही प्रश्न शालित्व आदि जातियों में कुर्वद्रूपत्व की व्यापकता एवं विरोधिता के बारे में भी उठता है। जैसे शालित्व कुर्वद्रूपत्व का व्यापक है या विरोधी ? पहले पक्ष में कुर्वद्रूपत्व के आश्रय यवबीज में भी शालित्व का अस्तित्व प्राप्त होगा, और दूसरे पक्ष में अङ्कुरकारी शालिबीज में भी उसका अभाव हो जायगा।

तात्पर्य यह है कि शालि, यव आदि के कुछ बीज अङ्कुर का जनन करते हैं और कुछ नहीं करते, अतः अङ्कुरकुर्वद्रूपत्व का अङ्कुर पैदा करने वाले सभी जाति के बीजों में माना जाना और अङ्कुर न पैदा करने वाले किसी जाति के किसी भी बीज में न माना जाना आवश्यक है। इसलिए कुर्वद्रूपत्व शालित्व आदि जातियों का न व्यापक ही कहा जा सकता और न विरोधी ही, इसी प्रकार शालित्व आदि जातियाँ भी कुर्वद्रूपत्व का न तो व्यापक ही कही जा सकतीं और न विरोधी ही। फलतः कुर्वद्रूपत्व में शालित्व आदि जातियों का साङ्कर्य होने से जातिरूप में उसका साधन या समर्थन नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे धर्म को जो किसी जाति के कतिपय आश्रयों में रहता हो और अन्य कतिपय आश्रयों में न रहता हो एवं वह जाति भी उस धर्म के कतिपय आश्रयों में रहती हो और कतिपय अन्य आश्रयों में न रहती हो, उसे जाति का पद नहीं प्राप्त होता; जैसे शरीरत्व और इन्द्रियत्व मनुष्यादि के शरीर और घ्राणेन्द्रिय जैसे पृथिवीत्व के कतिपय आश्रयों में रहते हैं और घट, पट आदि अन्य आश्रयों में नहीं रहते। एवं पृथिवीत्व जाति भी शरीरत्व और इन्द्रियत्व के कुछ आश्रयों में रहती है और कुछ आश्रयों में जैसे जलीय शरीर एवं जलीय इन्द्रियों में नहीं रहती अतः उन्हें जाति शब्द से व्यवहृत नहीं किया जाता।

इस मर्यादा को स्वीकार करने का कारण यही है कि जगत् में जितनी भी प्रमाणसिद्ध जातियाँ पायी जाती हैं उनमें कुछ ऐसी हैं जो अपने साथ रहने वाली दूसरी जाति के सभी आश्रयों में रहती हैं, जैसे मनुष्यत्व जाति ब्राह्मणत्व जाति के सभी आश्रयों में रहती है, और कुछ ऐसी हैं जो ऐसे किसी स्थान में नहीं रहतीं जहाँ उनके साथ में रहने वाली दूसरी जाति न रहती हो, जैसे ब्राह्मणत्व जाति ऐसे किसी स्थान में नहीं रहती जहाँ मनुष्यत्व जाति न रहती हो। तात्पर्य यह कि ऐसी एक भी प्रमाणसिद्ध जाति नहीं जो किसी अन्य जाति के कुछ आश्रयों में रहती हो और कुछ में न रहती हो और वह अन्य जाति भी उस जाति के कुछ आश्रयों में रहती हो और कुछ में न रहती हो। किन्तु कुर्वद्रूपत्व इसी प्रकार का है, वह शालित्व के कुछ आश्रयों में जैसे अङ्कुरकारी शालिबीजों में रहता है और कुछ आश्रयों में जैसे अङ्कुरानुत्पादक शालिबीजों में नहीं रहता, एवं शालित्व भी अंकुरकारी शालिबीज जैसे कुर्वद्रूपत्व के आश्रयों में रहता है और अङ्कुरकारी यवबीज जैसे उसके अन्य आश्रयों में नहीं रहता, इसलिये उसे जातिरूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता।

यहां यह शङ्का उठ सकती है कि जाति के विषय में उक्त मर्यादा नहीं मानी जा सकती क्योंकि ऐसी जाति भी प्रामाणिक मानी गयी है जो अपने आश्रय में रहने वाली अन्य जाति के कतिपय आश्रयों में रहती है और कतिपय में नहीं रहती और वह अन्य जाति भी उस जाति के कुछ आश्रयों मे रहती है और कुछ में नहीं रहती, जैसे घटत्व जाति अपने आश्रय मृन्मय घट में रहने वाली पृथिवीत्व जाति और स्वर्णनिर्मित घट में रहने वाली तेजस्त्व जाति के घटरूप कतिपय आश्रयों में रहती है और लोष्ठ तथा अग्नि आदि अन्य आश्रयों में नहीं रहती है। एवं पृथिवीत्व और तेजस्त्व जाति भी क्रमेण मृन्मय और स्वर्णमय घटों में रहती है किन्तु स्वर्णमय और मृन्मय घटों में नहीं रहती। परन्तु यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि मृन्मय और स्वर्णमय घटों में एक घटत्व जाति नहीं मानी जाती किन्तु मृन्मय और स्वर्णमय घटों में एक दूसरे से भिन्न दो घटत्व माने जाते हैं। और ये दोनों घटत्व उन जातियों की श्रेणी में आते हैं जो ऐसे स्थान में नहीं रहतीं जहां उनके साथ रहने वाली दूसरी जातियाँ न रहती हों, क्योंकि मृन्मय घट में रहने वाला घटत्व अपने साथ में रहने वाली पृथिवीत्व जाति से शून्य स्थान में नहीं रहता एवं स्वर्णमय घट में रहने वाला घटत्व अपने साथ की तेजस्त्व जाति से शून्य स्थान में नहीं रहता।

जाति के विषय में ऊपर कही हुई मर्यादा स्वीकार न करने पर अर्थात् किसी एक आश्रय में साथ रहने वाली दो जातियों में एक व्यापक और दूसरे

को व्याप्य न मानने पर शिंशपा-शीशम वृक्ष का व्यभिचारी हो जायगा, अर्थात् ऐसे शीशम की भी सम्भावना होगी जो वृक्ष न होगा। इस दोष की उपेक्षा या स्वीकृति नहीं की जा सकती, क्योंकि इसके रहने पर शिंशपा-स्वभाव से वृक्ष-स्वभाव के सर्वसम्मत अनुमान का अर्थात् यह शीशम होने के नाते वृक्ष है इस अनुमान का भङ्ग हो जायगा।

शिंशपा यदि अपनी नैसर्गिक वृक्षस्वभावता का त्याग कर देगा तो उसे अपने निजी स्वभाव का भी त्याग करना होगा, अर्थात् शिंशपा यदि वृक्ष न होगा तो शिंशपा भी न होगा। इस तर्क से शिंशपा में वृक्ष व्यभिचार का निरोध कर यदि उक्त अनुमान की रक्षा की जायगी तो उस प्रकार के तर्क से अङ्कुरकुर्वद्रूपत्व और शालित्व आदि बीजगत जातियों के भी परस्पर व्यभिचार को रोका जा सकेगा। जैसे अंकुरकुर्वद्रूप को शालि-स्वभावता है और शालि को अंकुरकुर्वद्रूपस्वभावता है, ऐसी स्थिति में यदि अंकुरकुर्वद्रूप शालिस्वभावता का एवं शालि अंकुरकुर्वद्रूपस्वभावता का त्याग करेगा तो उन्हें अपने स्वरूप का भी त्याग कर देना पड़ेगा, इसलिए अंकुरकुर्वद्रूपत्व एवं शालित्व आदि बीजगत जातियोंके परस्पर व्यभि-चरित होने की बात नहीं मानी जा सकती, फलतः बौद्ध के मनोरथानुरूप अंकुरकुर्वद्रूपत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

मृन्मय और स्वर्णमय घटों में भिन्न दो घटत्व के समान अंकुरकारी शालि, यव आदि बीजोंमें परस्परविरोधी ऐसे अनेक अंकुरकुर्वद्रूपत्व मानने चाहिये जो अंकुरानुत्पादक बीजों में न रहें। पर यह बात भी स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि इस व्यवस्था में शालिबीज में रहनेवाला अङ्कुरकुर्वद्रूपत्व शाल्यङ्कुर का एवं यवबीज में रहने वाला अङ्कुरकुर्वद्रूपत्व यवाङ्कुर का नियामक होगा, किन्तु अङ्कुरसामान्य का नियामक कोई न होगा, फलतः अन्य वस्तुओं में भी अङ्कुरत्व की प्रसक्ति होगी, इसलिये बीजसामान्य को अङ्कुर-सामान्य का कारण मानना होगा, और उस दशा में शीघ्रकारिता एवं विलम्ब-कारिता का समर्थन या क्षेत्रस्थ बीज में अङ्कुरोत्पादकता एवं कुसूलस्थ बीज में अङ्कुरानुत्पादकता का समर्थन सहकारी कारणों के सन्निधान तथा असन्निधान द्वारा ही करना होगा, और तब कुर्वद्रूपत्व की कल्पना का कोई आधार न रह जायगा।

बीजसामान्य को अङ्कुरसामान्य का कारण न मान कर कल्पित अङ्कुरकुर्वद्रूपत्व से युक्त बीजों को अङ्कुर का कारण मानने में यह एक और दुर्वार दोष होगा कि बीज जैसे अंकुर के प्रति बीजत्व रूप से कारण नहीं है उसी प्रकार अन्य

किसी कार्य के प्रति भी कारण नहीं होगा, उस दशा में बीजत्वरूप से बीज की सत्ता का ही लोप हो जायगा, क्यों कि बौद्धमत में अर्थ-क्रियाकारिता ही सत्ता का लक्षण है अतः जो जिस रूप से किसी कार्य का कारण होता है उसी रूप से उसकी सत्ता हो सकती है, इसलिए कुर्वद्रूपत्व की कल्पना बौद्ध के बुद्धिमान्द्य या प्रमाद का सूचक होगी, क्योंकि बीज का जो रूप प्रत्यक्ष सिद्ध है उस रूप से उसका असद्भाव और जो रूप किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो पाता उस रूप से उसका सद्भाव उसे मान्य करना होगा।

अंकुर के समान अन्य कार्यों के प्रति भी बीज को बीजत्व रूप से कारणता न होगी इस विषय को समझने के लिये निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिये। अंकुर से भिन्न जिन कार्यों के प्रति बीजत्व रूप से बीज को कारण होने को सम्भावना की जा सकती है वे ये हैं, (१) कार्यमात्र (२) बीजमात्र (३) बीजानुभव (४) बीजनाश (५) अतीन्द्रिय कोई कार्य।

इनमें पहला पक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि बीज न रहने पर भी अन्य कारणसमूहों से कार्यों का जन्म होता है। जैसे सूत, जुलाहे आदि से कपड़े का निर्माण।

दूसरा पक्ष भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि बीज को बीज का कारण मानने पर अंकुरकारी बीज से भी अंकुर का जन्म न होकर बीज के ही जन्म का प्रसङ्ग होगा। एवं उत्पादक बीज का अभाव रहने से पहले बीज की उत्पत्ति न हो सकने के कारण बीजपरम्परा अस्तित्व में ही न आ सकेगी।

तीसरा पक्ष भी ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि बीज न रहने पर भी योगी को उसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

चौथा पक्ष भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि बौद्धमत में अनन्तरभावी भावात्मक कार्य से अतिरिक्त नाश का अस्तित्व ही नहीं है।

कुछ नियन्त्रण लगा कर पांचवे पक्ष को स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु उस पक्ष का स्वीकार बौद्धों के विशेष मतिमान्द्य का ही द्योतक होगा, क्योंकि अङ्कुर आदि दृश्य कार्यों में अदृश्य कुर्वद्रूपत्वरूप से और अदृश्य कल्पित कार्य के प्रति दृश्य बीजत्वरूप से बीज की कारणता बौद्ध को माननी पड़ जायगी। और यह होगा नितान्त अप्रामाणिक।

अङ्कुरसामान्य के प्रति बीजत्वरूप से बीज को कारण न मानने पर अङ्कुर-सामान्य की आकस्मिकता भी प्राप्त होगी। जो इष्ट नहीं है। अर्थात् यह नियम है कि जिन कारणों के सन्निधान में जिस कार्य के उत्पन्न होने का निश्चय होता है उस कार्य के लिये उन्हीं कारणों को एकत्र करने में मनुष्य की

प्रवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति में यदि बीजसामान्य को अङ्कुरसामान्य का कारण न माना जायगा तो बीज आदि अमुक-अमुक कारणों के सन्निधान में अङ्कुरसामान्य की उत्पत्ति होती है ऐसा निश्चय न हो सकने के कारण अंकुर-सामान्य को उत्पन्न करने की इच्छा से बीज आदि वस्तुओं के एकत्रीकरण में मनुष्य की प्रवृत्ति न होगी। फलतः अङ्कुरसामान्य का जन्म आकस्मिक अर्थात् अव्यवस्थित हो जायगा।

यही सब कारण हैं जिनसे इस पद्य के अन्तिम भाग में बौद्ध की अप्रामाणिक तथा अनेकदोषग्रस्त कुर्वद्रूपत्व की कल्पना पर खेद और आश्चर्य प्रकट किया गया है।

आकस्मिकत्वमपि तस्य भयाय न स्यात्
स्याद्वादमन्त्रमिह यस्तव बम्भणीति।
यत्साधनं यदपि बाधनमन्यदीयाः
कुर्वन्ति तत् तव पितुः पुरतः शिशुत्वम् ॥ १२ ॥

हे भगवन्, जो व्यक्ति इस विचार में तुम्हारे स्याद्वाद मन्त्र का प्रयोग विशेषरूप से करता है उसे कार्यसामान्य के आकस्मिक हो जाने का भी भय नहीं होता, क्योंकि विभिन्न दृष्टियों से कार्य की आकस्मिकता और अनाकस्मि-कता दोनों ही इष्ट हैं। ऐसी परिस्थिति में स्याद्वाद के महत्त्व को जाननेवाले लोग जो किसी एक विचार का समर्थन और अन्य विचार का खण्डन आविष्ट भाव से करते हैं, उनका वह कार्य, हे भगवन्! आपके सामने ठीक वैसा ही है जैसा पिता के सामने बालक का विनोद।

जैसे बालक पिता के सामने बड़े श्रम से धूलि का गृहनिर्माण करते और बाद में आपस में झगड़ कर उसे तोड़ डालते हैं, पर पिता उनकी इन क्रियाओं से उन्हें अपराधी समझ दण्ड नहीं देता। उसी प्रकार वस्तुओं के विभिन्न अनन्त धर्मों का समर्थन करने वाले स्याद्वाद के मर्मज्ञ जैनशासन के प्रवर्तक तीर्थङ्कर की दृष्टि में वस्तु के किसी धर्मविशेष का अभिनिविष्ट होकर समर्थन करनेवाले लोग भी अपराधी नहीं गिने जाते, क्योंकि वे वस्तु के जिन धर्मों का प्रतिपादन करने के लिए एकाङ्गी विचारों का बड़े आग्रह से समादर करते हैं वे स्याद्वाद की दृष्टि में अनुचित नहीं हैं।

पूर्व कारिका की व्याख्या के अन्तिम भाग में बौद्धमत में अङ्कुरसामान्य के आकस्मिक हो जाने की जो आपत्ति बतायी गयी है उसके प्रतिबन्दी रूप में बौद्ध स्थैर्यवादी के प्रति यह कहते हैं कि स्थैर्यवाद में भी तत्तत् अंकुर का जन्म आकस्मिक हो जायगा। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि जैसे अङ्कुरसामान्य

के प्रति बीजसामान्य को कारण न मानने पर अङ्कुरसामान्य की आकस्मिकता प्राप्त होती है अर्थात् अंकुरसामान्य की उत्पादक सामग्री का निश्चय न हो सकने से उसकी इच्छासे अनुकूलसामग्री के सम्पादन में मनुष्य की प्रवृत्ति अनुपपन्न होती है उसी प्रकार तत्तत् बीज आदि को ततत् अंकुर के प्रति कारण न मानने पर तत्तत् अंकुर की आकस्मिकता प्राप्त होगी। अर्थात् तत्तत् अंकुर की उत्पादकसामग्री का निश्चय न हो सकने से तत्तत् अंकुर की इच्छा से सामग्री-सम्पादन में मनुष्य की प्रवृत्ति अनुपपन्न होगी।

इस बौद्धकथित आरोप का स्पष्टरूप यह है कि यदि अंकुरसामान्य के कारणों को ही तत्तत् अङ्कुर का भी उत्पादक माना जायगा तो एक अङ्कुर की उत्पत्ति जिस समय जिस स्थान में होती है उसी समय उसी स्थान में अन्य अङ्कुरों की भी उत्पत्ति न रोकी जा सकेगी। क्योंकि अङ्कुरसामान्य के कारण ही तत्तत् अङ्कुरों के भी उत्पादक हैं अत: जब एक अङ्कुर का जनन करने के लिये अङ्कुरसामान्य के कारण एकत्र होंगे तो उनसे अन्य अङ्कुरों का जनन कैसे रोका जा सकेगा। अतः यह मानना होगा कि अङ्कुरसामान्यके प्रति बीज आदि वस्तुयें सामान्यरूप से और तत्तत् अङ्कुर के प्रति तत्तत् बीज आदि वस्तुयें विशेषरूप से कारण हैं।

इस विशेष कार्यकारणभावको स्वीकार करने पर यह प्रश्न स्वभावत: उठता है कि जिस अङ्कुर का जन्म जिन बीज आदि विशेष व्यक्तियों से होगा उन विशेष व्यक्तियों में ही उस अङ्कुर की कारणता का निश्चय अन्वय-व्यतिरेक द्वारा होगा। फिर जो नवीन अङ्कुर उत्पादनीय है उसकी कारणता का निश्चय उसकी उत्पत्ति के पहले कैसे होगा ? अर्थात् किस बीज से किस अङ्कुर का जन्म होगा यह निश्चय कथमपि न हो सकेगा। और ऐसा निश्चय न हो सकने से नवीन विशेष अङ्कुर के उत्पादन की इच्छा से मनुष्य किसी विशेष बीज का उपयोग न कर सकेगा। फलत: नये अङ्कुरों का जनन निरुद्ध हो जायगा।

अङ्कुरसामान्य और तत्तत् अङ्कुर की कथित आकस्मिकता के परिहार के लिये बौद्ध और स्थैर्यवादी को ऐकमत्य से यह कहना होगा कि विशेष से पृथक् सामान्य की सत्ता नहीं होती, अत: तत्तत् बीजसे पृथक् बीजसामान्य एवं तत्तत् अङ्कुर से पृथक् अङ्कुरसामान्य का अस्तित्व नहीं है और इसीलिये अङ्कुरसामान्य के प्रति बीजसामान्य की कारणता भी तत्तत् अङ्कुर के प्रति तत्तत् बीज की कारणता से भिन्न नहीं है। अर्थात् सामान्यरूप से विशेषकारणता का ही व्यवहार होता है। भेद इतना ही है कि जब तत्तत् बीज की कारणता का व्यवहार बीजसामान्य की कारणता के रूप में होता है तब उस

कारणता की कार्यता का भी अङ्कुरसामान्य की कार्यता के रूप में व्यवहार किया जाता है और जब उस कारणता का विशेषकारणता के रूप में व्यवहार होता है तब उसकी कार्यता का तत्तत् अङ्कुर की विशेष कार्यता के रूप में व्यवहार किया जाता है।

ऐसा मानने पर अङ्कुरसामान्य या अंकुरविशेष की आकस्मिकता नहीं प्राप्त होती, क्योंकि सामान्यरूप से (अङ्कुरत्वरूप से) तत्तत् अङ्कुर की कार्यता एवं सामान्यरूप से (बीजत्वरूप से) तत्तत् बीज की कारणता के ज्ञान से ही अर्थात् अङ्कुर बीज का कार्य है या बीज अङ्कुर का कारण है, इस प्रकार के ज्ञानसे ही तत्तत् अङ्कुर या अङ्कुरसामान्य का जनन करने के इच्छुक मनुष्य की प्रवृत्ति होती है।

परन्तु ऐसा स्वीकार करने पर भी यह दोष रह ही जायगा कि एक ही बीज सामान्यरूप से अङ्कुरसामान्य का कारण और अङ्कुरविशेष का अकारण एवं विशेषरूप से अङ्कुरविशेष का कारण और अङ्कुरसामान्य का अकारण होगा। इस प्रकार एक ही बीज में एक ही कार्य की कारणता और अकारणता दोनों माननी होंगी। किन्तु यह बात बौद्ध और नैयायिक आदि स्थैर्यवादी दोनों ही को मान्य नहीं हो सकती क्योंकि दोनों एकान्तवादी हैं। इसीलिये इस पद्य में जैनशासन के महामन्त्र उस स्याद्वाद के प्रयोग की प्रशंसा की गयी है जिसका प्रयोग करनेवाले व्यक्ति के सम्मुख ऐसी अमान्य-मान्यता की विभीषिका कभी नहीं खड़ी हो सकती।

एकत्र नापि करणाकरणे विरुद्धे
भिन्नं निमित्तमधिकृत्य विरोधभङ्गात्।
एकान्तदान्तहृदयास्तु यथाप्रतिज्ञं
किञ्चिद् वदन्त्यसुपरीक्षितमत्वदीयाः ॥ १३ ॥

यद्यपि एक व्यक्ति में भी करण और अकरण-किसी कार्य की उत्पादकता और अनुत्पादकता के अस्तित्व में कोई विरोध नहीं होता क्योंकि निमित्तभेद से उसका परिहार हो जाता है। अतः बौद्ध का एकमात्र क्षणिकता का पक्ष युक्तिसंगत नहीं है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नैयायिक का एकान्तस्थिरतापक्ष न्याय्य है क्योंकि एकान्तवाद ने जिनके हृदय पर अधिकार स्थापित कर लिया है ऐसे सभी लोग आपके अनुशासन का लङ्घन कर अच्छे प्रकार परीक्षा किये विना ही कुछ अपूर्ण एवं अनिश्चित बात कहा करते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तु न तो केवल क्षणिक है और न केवल स्थिर, प्रत्युत दृष्टिभेद से क्षणिकता और स्थिरता दोनों को ही वस्तु का धर्म मानना उचित है।

परस्परविरोधी भाव और अभावरूप पदार्थों का एकजातीय व्यक्तियों में समावेश मान्य हो सकता है अर्थात् बीजत्वजाति के किसी आश्रय में अङ्कुरोत्पादकता और किसी अन्य आश्रय में अङ्कुरानुत्पादकता मानने में बाधा नहीं है। जैसे क्षेत्रस्थ बीज में अङ्कुरोत्पादकता और कुसूलस्थ बीज में अङ्कुरानुत्पादकता। किन्तु एक व्यक्ति में परस्परविरोधी पदार्थों का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। क्योंकि वैसा स्वीकार कर लेने पर उन पदार्थों का एकत्र न रहने रूप विरोध की ही समाप्ति हो जायगी, अतः अङ्कुरोत्पादक बीज को अङ्कुरानुत्पादक बीज से भिन्न मानना होगा और इसी प्रकार प्रथमक्षणभावी कार्य के उत्पादक प्रथमक्षणस्थ पदार्थ को द्वितीयक्षणभावी कार्य के उत्पादक–प्रथमक्षणस्थ कार्य के अनुत्पादक द्वितीयक्षणस्थ पदार्थ से भिन्न माना जायगा। फलतः पदार्थ की क्षणिकता सिद्ध होगी। इस बौद्ध कथन का उत्तर इस श्लोक में यह दिया गया कि जैसे एकजातीय पदार्थ में परस्पर विरोधी धर्मों का समावेश होता है उसी प्रकार एक व्यक्ति में भी निमित्तभेद से उनका समावेश हो सकता है। जैसे जिस बीज में सहकारी कारणों के सन्निधानकाल में अङ्कुरोत्पादकता है उसी बीज में सहकारी कारणों के असन्निधानकाल में अङ्कुरानुत्पादकता मानने में कोई असङ्गति नहीं है, क्योंकि भावाभावात्मक पदार्थों का एक काल में एकत्र असहभाव का नियम है। अतः कालरूप निमित्त के भेद से भावाभावात्मक पदार्थों का अस्तित्व एक व्यक्ति में कथमपि असङ्गत नहीं हो सकता। परिणामतः भावाभावात्मक धर्मों के बल से उनके आश्रयों में भेद नहीं माना जा सकता।

बौद्ध करण और अकरण को परस्पर विरुद्ध मानकर उनके आश्रय व्यक्तियों को परस्पर भिन्न मानते हैं, परन्तु स्थैर्यवादी के विचार से यह ठीक नहीं है, क्योंकि उन दोनों धर्मों का परस्पर में कोई विरोध ही नहीं है।

विरोध का अर्थ है–असहभाव–एक साथ न रहना, वह दो प्रकार का होता है कालगत और देशगत, कालगत विरोध का अर्थ है एक काल में न रहना, जैसे घट और घटध्वंस में कालगत विरोध है, जिस काल में घट रहता है उस काल में उसका ध्वंस नहीं रहता और जिस काल में उस घट का ध्वंस रहता है उस काल में वह घट नहीं रहता। देशगत विरोध का अर्थ है एक देश–स्थान में न रहना, जैसे मनुष्यत्व और मनुष्यत्वाभाव में देशगत विरोध है, मनुष्यत्व जिस स्थान में–मनुष्य मे रहता है उसमें उसका अभाव नहीं रहता। और मनुष्यत्वाभाव जिस स्थान में–पशु में रहता है उसमें मनुष्यत्व नहीं रहता।

इन दोनों प्रकार के विरोधों की उपपत्ति तीन प्रकार से होती है। वे प्रकार यह हैं—

(१) परस्पराभावरूपता, (२) परस्पराभावापादकता और (३) परस्परभिन्नता।

परस्पराभावरूपता—एक को अन्य का अभावरूप होना, जैसे नित्यत्व और अनित्यत्व एक दूसरे का अभावरूप होने के कारण परस्पर विरुद्ध हैं।

परस्पराभावापादकता—एक दूसरे के अभाव का व्याप्य होने के कारण एक दूसरे के अभाव का आपादक होना, जैसे शैत्य उष्णाभाव का व्याप्य होने के कारण उष्णाभाव का और उष्ण शैत्याभाव का व्याप्य होने के कारण शैत्याभाव का आपादक होता है, अतः शैत्य और उष्ण परस्पर विरुद्ध हैं।

परस्परभिन्नता—वस्तुओं का आपसी भेद। जैसे दण्ड और कुण्डल में परस्पर भिन्नता है अतएव उनमें विरोध है, अर्थात् दण्डविशिष्ट में कुण्डल का अस्तित्व या कुण्डलविशिष्ट का तादात्म्य एवं कुण्डलविशिष्ट में दण्ड का अस्तित्व या दण्डविशिष्ट का तादात्म्य नहीं है, क्योंकि विशेषण और विशेष्य दोनों में आश्रित होने वाला पदार्थ ही विशिष्ट में आश्रित हो सकता है, जैसे रक्तता और दण्ड दोनों मे आश्रित दृश्यमानता रक्तदण्ड में आश्रित होती है, दण्ड और कुण्डल परस्पर में आश्रित नहीं हैं अतः वे परस्पर-विशिष्ट में आश्रित नहीं होते।

अब देखना यह है कि करण और अकरण में कालगत विरोध है या देशगत, और यदि किसी प्रकार का विरोध है तो उक्त प्रकारों में कौन सा प्रकार उसका बीज है।

क्षणभङ्गवादी के मत में सामान्य अकरण—उत्पादकता का सामान्याभाव किसी वस्तु का धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि जो किसी का उत्पादक नहीं होता वह कोई वस्तु नहीं होता किन्तु अलीक होता है। अतः सामान्य अकरण का विरोध करण के साथ नहीं माना जा सकता। हाँ, तत्कार्य के करण के साथ विरोध की सम्भावना की जा सकती है, अर्थात् एक कार्य की उत्पादकता और अनुत्पादकता में विरोध माना जा सकता है, अतः उसी विरोध के विषय में विचार करना है कि वह किमात्मक और किम्मूलक है ?

तत्कार्य का करण और तत्कार्य का अकरण ये दोनों धर्म परस्पराभावरूप हैं। अतः उनमें परस्पराभावरूपतामूलक विरोध प्राप्त है, किन्तु काल या देश किसी भी दृष्टि से वह सम्भव नहीं है। क्योंकि उनमें कालगत विरोध तो क्षणभङ्गवादी भी नहीं मानते। जैसे जिस काल में क्षेत्रस्थ बीज में अङ्कुर-करण-अङ्कुर की उत्पादकता है उसी काल में पाषाण कण में अङ्कुराकरण-अङ्कुर की

उत्पादकता का अभाव है, अर्थात् एक ही काल में देशभेद से उक्त भावाभावात्मक धर्मों का अस्तित्व है।

इस पर स्थैर्यवादी का कथन यह है कि जैसे एक ही काल में देशभेद से उक्त दोनों धर्मों का अस्तित्व है, उसी प्रकार एक ही बीज-देश में कालभेद से उन धर्मों का अस्तित्व मानने में कोई बाधा नहीं है। अर्थात् जिस बीज में सहकारियों के सन्निधानकाल में अङ्कुरकरण-अङ्कुर की उत्पादकता है उसी बीज में सहकारियों के असन्निधानकाल में अङ्कुराकरण-अङ्कुर की अनुत्पादकता है, ऐसा मानने में कोई हानि नहीं है। इस प्रकार उन दोनों धर्मों में परस्पराभावरूपतामूलक विरोध का अभाव सिद्ध होता है।

परस्पराभावापादकतामूलक विरोध भी उन दोनों धर्मों में नहीं माना जा सकता, क्योंकि तत्कार्यकरण तत्कार्याकरण का अभावरूप है और तत्कार्याकरण तत्कार्यकरण का अभावरूप है। एक वस्तु में व्याप्यव्यापकभाव होता है पर आपाद्य-आपादकभाव नहीं होता, अतः वे दोनों धर्म एक दूसरे का अभावरूप होने से उसका व्याप्य होने पर भी उसका आपादक नहीं हो सकते। इस प्रकार जब वे दोनों धर्म परस्पराभाव के आपादक नहीं होते तो परस्पराभाव की आपादकता के कारण परस्पर विरुद्ध कैसे हो सकते हैं?

यदि तत्कार्यकरण और तत्कार्याकरण को परस्पराभावरूप न माना जाय तो एक दूसरे के अभाव का व्याप्य और आपादक हो सकता है किन्तु विरोधी फिर भी नहीं हो सकता। क्योंकि तत्कार्यकरण स्वयं जिस काल में जहाँ रहेगा उसी काल में वहाँ तत्कार्याकरण के अभाव का आपादन करेगा। फलतः एक काल में एक स्थान में उन दोनों धर्मों का अस्तित्व नहीं होगा किन्तु कालभेद से एक स्थान में उन दोनों धर्मों के रहने में कोई बाधक नहीं होगा। इसलिये उन दोनों धर्मों में सर्वथा एक स्थान में न रहना, ऐसा विरोध नहीं हो सकता। हाँ, एक काल में एक स्थान में न रहना इस प्रकार का विरोध सम्भव है, किन्तु वैसे विरोधी धर्मों का अस्तित्व एक व्यक्ति में स्थैर्यवादी भी नहीं मानते।

परस्परभिन्नतामूलक विरोध मानने में कोई हानि नहीं है। क्योंकि जिन धर्मों मे उस प्रकार से विरोध होता है। उनके आश्रय व्यक्तियों में परस्पर में वैधर्म्य-विभिन्नधर्ममात्रता की सिद्धि होती है न कि परस्परभेद की। अतः तत्कार्यकरण और तत्कार्याकरण इन विरोधी धर्मों के सम्बन्ध से उनके आश्रयों में भेद का साधन असम्भव है। हाँ, भेद को अव्याप्यवृत्ति मानने पर अर्थात् अभिन्न में भी कथंचित् भेद का अस्तित्व मानने पर दण्डविशिष्ट में कुण्डल-

विशिष्ट का भेद जैसे स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार तत्कार्यकरण-विशिष्ट में तत्कार्याकरणविशिष्ट का भेद माना जा सकता है। परन्तु यह भेद व्यक्ति के द्वैत का साधक नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार का भेद मानने पर भी क्षणिकता की सिद्धि नहीं हो सकती।

काले च दिश्यपि यदि स्वगुणैर्विरोधो,
बाह्यो न कोऽपि हि तदा व्यवतिष्ठतेऽर्थः।
सौत्रान्तिको व्यवहरेत् कथमित्थमुच्चै-
र्न, त्वन्मतद्रुहमहो वृणुते जयश्रीः ॥ १४ ॥

कालभेद और देशभेद से तत्कार्यकरण और तत्कार्याकरण ऐसे जिन गुणों-धर्मों का एक व्यक्ति में सहभाव प्राप्त होता है उनका भी परस्पर में विरोध-असहभाव मानकर यदि उन्हें अपने आश्रयों का भेदक माना जायगा तो किसी भी बाह्य वस्तु की सिद्धि न होगी।

तात्पर्य यह है कि जिस क्षणिक बीज की बाह्यसत्ता सौत्रान्तिक जैसे बौद्धों को मान्य है उसकी भी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि वह क्षणिक बीज भी अपने देश एवं अपने काल में ही अपने कार्य का उत्पादक होता है और अन्य देश एवं अन्य काल में उसका उत्पादक नहीं होता। इस प्रकार एक ही क्षणिक बीज में अपने कार्य की उत्पादकता और अनुत्पादकता प्राप्त होती है। अब यदि इस उत्पादकता और अनुत्पादकता में पारस्परिक विरोध मान कर एक के आश्रय को दूसरे के आश्रय से भिन्न माना जायगा तो इन धर्मों का आश्रय वह एक ही बीज उसी से भिन्न हो जायगा, और उसका उसी से भिन्न हो जाने का अर्थ होगा उसका न होना। इस प्रकार स्थिर वस्तु के समान क्षणिक वस्तु की भी बाह्यसत्ता का लोप हो जायगा।

इस स्थिति में बाह्यवस्तु की सत्ता के आधार पर सौत्रान्तिक कार्यकारणभाव आदि जिन व्यवहारों को उच्च स्वर से स्वीकार करता है उनकी उपपत्ति नहीं होगी। इसलिये हे भगवन्! यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सूक्ष्मदृष्टि से वस्तुतत्त्व का विचार करने में सिद्धहस्त भी सौत्रान्तिक को विजयश्री वरण नहीं करती क्योंकि तुम्हारे सिद्धान्त का विरोध करने के कारण वस्तुस्वरूप का याथातथ्येन वर्णन करने में यह उसे अयोग्य पाती है।

इस श्लोक में जिस बौद्धशङ्का का समाधान किया गया है वह इस प्रकार है।

पूर्व श्लोक में काल-भेद से एक व्यक्ति में एक ही कार्य के करण और अकरण के अविरोध का उपपादन किया गया है। उस पर बौद्ध की शङ्का यह है कि

जैसे कालभेद से भी एक द्रव्य में ह्रस्व और दीर्घ दो परिमाणों का अस्तित्व नैयायिक को मान्य नहीं है उसी प्रकार कालमेद से उक्त धर्मों का भी एक व्यक्ति में सन्निवेश मान्य नहीं होना चाहिये। क्योंकि कालभेद में यदि अविरोध के सम्पादन का कौशल होता तो उससे दो परिमाणों में भी विरोध का परिहार हो जाता। पर ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि कालभेद से एक व्यक्ति परस्परविरोधी धर्मों का आश्रय नहीं हो सकता।

इस शङ्का का नैयायिक इस प्रकार समाधान करते हैं कि कालभेद में विरोधपरिहार करने की क्षमता अवश्य है, किन्तु जहां विरोधपरिहार का कोई बाधक रहता है वहां पर उसका सम्पादन नहीं करता। दो परिमाणों का एक द्रव्य में कालभेद से सहभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि किसी द्रव्य के पुराने अवयवों का बहिर्भाव या नये अवयवों का अन्तर्भाव विना हुये उसमें परिमाणान्तर का उदय या अनुभव नहीं होता, और जब पुराने अवयवों का बहिर्भाव या नये अवयवों का अन्तर्भाव होगा तो पहले द्रव्य का नाश अवश्य हो जायगा। जिन अवयवों को अलग होना है उनका अवस्थित अवयवों से विभाग और उनके प्राथमिक परस्पर-संयोग का नाश अवश्यम्भावी है, और यह सम्भव नहीं कि अवयवसंयोग का नाश होने पर भी द्रव्य बना रहे क्योंकि अवयवसंयोग का नाश ही द्रव्य का नाशक होता है। इसी प्रकार द्रव्य की पूर्वरचना के ज्यों के त्यों रहते हुये नये अवयवों का अन्तर्भाव और उससे परिमाण का परिवर्तन सम्भव नहीं है। क्योंकि भूमि पर पड़े हुए दण्ड आदि द्रव्यों में उसी प्रकार के द्रव्यान्तर का संयोग होने पर भी उनमें नये अवयवों के अन्तर्भाव या परिवर्तित परिमाण का अनुभव किसी को नहीं होता। इस प्रकार किसी द्रव्य में परिमाण का परिवर्तन होने के पूर्व उसका नाश अनिवार्यरूप से हो जाता है। अतएव एक द्रव्य में कालभेद से दो परिमाणों का अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

एक व्यक्ति में दो परिमाणों के सहभावका सम्पादन करने में कालभेद की असमर्थता देखकर उसकी सार्वत्रिक असमर्थता की कल्पना उचित नहीं है। क्योंकि एक व्यक्ति में एक कार्य की उत्पादकता और अनुत्पादकता का कालभेद से सन्निवेश मानने में कोई बाधक नहीं है। अतः उस कार्य के सभी उत्पादकों को उसके सभी अनुत्पादकों से भिन्न बताना युक्तिसङ्गत नहीं है।

अनेकान्तवादी जैन तो उक्त शङ्का की जड़ ही काट देते हैं। क्योंकि वे आश्रयनाश को परिमाण का नाशक न मान कर कालमेद से एक व्यक्ति में ही दो परिमाणों का अस्तित्व मान लेते हैं। पूर्वद्रव्य के अवस्थित रहते पुराने

अवयवों का निकल जाना और नये अवयवों का अन्तर्निविष्ट हो जाना अयौक्तिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मनुष्य आदि प्राणियों के पूर्व शरीर के रहते उसके अवयवों का जाना और आना तथा उसमें परिमाण का परिवर्तन देखा जाता है।

तस्य त्वदागममृते शुचियोग, योगा-
चारागमे प्रविशतोऽपि न साध्यसिद्धिः !
तत्रापि हेतुफलभावमते प्रसङ्गा-
भङ्गात्तदिष्टिविरहे स्थिरबाह्यसिद्धेः ॥ १५ ॥

हे भगवन् ! तुम सभी प्राणियों के पारस्परिक वैरभाव का शमन कर उनमें सौहार्द की सरस सरिता प्रवाहित करने वाले पवित्र योग के निधि हो। तुमने जिस स्याद्वाद-दर्शन का आविष्कार किया है वह समस्त वादियों को उपादेय है क्योंकि वह किसी वादी के मनोरथ का भङ्ग नहीं करता। फिर भी तुम्हारे ऐसे उत्तम आगम की उपेक्षा कर यदि सौत्रान्तिक नैयायिकों के तर्क-शरों के प्रहार से अपनी रक्षा करने के लिये क्षणिकविज्ञानवादी योगाचार के सिद्धान्त की शरण लेगा तो भी उसके अभिलषित साध्य की सिद्धि न होगी। क्योंकि कार्यकारणभावरूप अपने वैरी का मार्गनिरोध किये बिना ही यदि वह योगाचार के विज्ञान नगर में प्रवेश करेगा तो उसकी उस आपत्ति का परिहार न होगा जिसे टालने के लिये उसने यह नया स्थान चुना है। और यदि कार्यकारणभाव का अस्तित्व मिटाकर वह ऐसा करेगा तो स्थिर एवं बाह्य वस्तु के स्वीकार का भार उसे अवश्यमेव उठाना पड़ेगा।

कालभेद से एक देश में और देशभेद से एक काल में भावाभावात्मक पदार्थों का अविरोध न मानने पर पूर्वश्लोक में बाह्य वस्तु की सत्ता का लोप होगा, यह आपत्ति सौत्रान्तिक के प्रति प्रदर्शित की गयी है। सौत्रान्तिक क्षणिकबाह्यार्थवाद में उसके परिहार का उपाय न पाकर योगाचार के क्षणिक विज्ञानवाद की शरण लेकर उस आपत्ति को अनापत्ति घोषित करने की चेष्टा कर सकता है। अतः इस श्लोक में उसकी इस सम्भावित चेष्टा को भी व्यर्थ सिद्ध करने की युक्ति बतायी गयी है।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि यदि सौत्रान्तिक कार्यकारणभाव मानकर विज्ञानवाद का अवलम्बन करेगा तो सर्वदा और सर्वत्र सभी कार्यों के जनन की अथवा शून्यवाद की प्रसक्ति होगी। जैसे जो ज्ञानात्मक वस्तु जिस ज्ञानात्मक देश या काल में जिस ज्ञानात्मक कार्य का जनन करती है वह यदि अन्य ज्ञानात्मक देश और काल में भी उस ज्ञानात्मक कार्य के जनन में समर्थ होगी

तो सभी ज्ञानात्मक देश और काल में अपने उस ज्ञानात्मक कार्य का जनन करेगी। फलतः समस्त देश और काल में एक कार्य का अस्तित्व हो जाने से वस्तु की एकक्षणमात्रता नहीं सिद्ध होगी। और उसे यदि अन्य ज्ञानात्मक देश और काल में अपने उस ज्ञानात्मक कार्य के प्रति असमर्थ माना जायगा तो एक ही कार्य के प्रति सामर्थ्य और असामर्थ्य ऐसे दो विरुद्ध धर्मों के समावेश से उस व्यक्ति में उसीका भेद हो जाने से उसका स्वरूपव्याघात हो जाने के कारण शून्यवाद के साम्राज्य का उदय हो जायगा।

और यदि कार्यकारणभाव को अस्वीकार कर वह विज्ञानवाद को अपनायेगा तो कारणतारूप सामर्थ्य की असिद्धि होने से आपादक की अप्रसिद्धि होने के कारण प्रसङ्ग-तर्क की एवं न्यायमत में अप्रसिद्ध का अभाव न माने जाने के कारण सामर्थ्याभावरूप साध्य की अप्रसिद्धि होने से विपरीतानुमान की प्रवृत्ति न होगी। अतः पूर्वक्षणस्थ और द्वितीयक्षणस्थ वस्तुओं में सामर्थ्य और असामर्थ्य ऐसे विरुद्ध धर्मों का समावेश न होने से उनका परस्पर भेद नहीं सिद्ध होगा। भेद न सिद्ध होने पर उसके उपपादनार्थ क्षणिकता की भी सिद्धि न होगी। फलतः सत्ता और क्षणिकता का सहचार-दर्शन न होने के कारण सत्ता में क्षणिकता की व्याप्ति नहीं सिद्ध होगी। अतः क्षणिकता के साधनार्थ सत्ता का उपयोग नहीं किया जा सकेगा।

सत्ता का साधनरूप से उपयोग न किये जा सकने का एक कारण यह भी है कि बौद्धमत में सत्ता अर्थक्रियाकारितारूप है। और कार्यकारणभाव के अभावपक्ष में अर्थक्रियाकारिता—किसी कार्य की कारणता असिद्ध है। इस प्रकार स्वरूपतः और व्याप्तितः दोनों दृष्टियों से असिद्ध होने के कारण सत्ता क्षणिकता का साधन न कर सकेगी। फिर किसी प्रकार का बाधक न रहने के कारण "यह वही मनुष्य है जिसे कल्ह देखा था" इस विभिन्न काल सम्बन्धी मनुष्य में एकत्व को बताने वाली प्रत्यभिज्ञा के बल से स्थिर बाह्य वस्तु की सिद्धि हो जायगी, अतः यह कथा सर्वथा सत्य है कि योगाचार की विज्ञानभूमि में भी सौत्रान्तिक निरापद या कृतार्थ नहीं हो सकता।

देशे स्वभावनियमाद् यदि नापराधः
कालेऽपि मास्तु स निमित्तभिदाऽनुचिन्त्या।
तैस्तैर्नयैर्व्यवहृतिर्यदनन्तधर्म-
क्रोडीकृतार्थविषया भवतो विचित्रा ॥ १६ ॥

अपने आश्रयस्थान में ही कार्य का जनन करना यह वस्तु का नियतस्वभाव है, स्वभाव के ऊपर किसी तर्क का शासन नहीं चल सकता, उसका अधि-

कार असंकुचित होता है, उसके विषय में, इस वस्तु का ऐसा ही स्वभाव क्यों, इसके विपरीत क्यों नहीं ? ऐसे प्रश्न का औचित्य नहीं माना जाता। इसलिये जो एकदेश में एक कार्य का कारी-उत्पादक है, देशान्तर में उस कार्य का अकारित्व उसके स्वभाव रूप में नहीं प्राप्त होता। अतः देश-भेद से एक कार्य का कारित्व और अकारित्व ऐसे दो विरुद्ध धर्मों का सन्निवेश एक व्यक्ति में प्राप्त न होने के कारण क्षणस्थायी वस्तु में सर्वशून्यता-पर्यवसायी अनैक्य नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये अमुक पदार्थ अमुक ही स्थान में अमुक कार्य का जनन करता है ऐसा कहने वाले व्यक्ति का कोई अपराध नहीं होता।

यदि ऐसी बात क्षणिकवादी की ओर से कही जायगी तो स्थैर्यवादी की ओर से भी यह बात कही जा सकती है कि—सहकारी कारणों के सन्निधान-काल ही में कार्य का जनन करना—वस्तु का नियत स्वभाव है। और समालोचना स्वभाव के पद का स्पर्श नहीं कर सकती। अतः एक काल में जो जिस कार्य का कारी है, कालान्तर में उस कार्य का अकारित्व उसके स्वभाव रूप में सम्भावित नहीं हो सकता। इसलिये काल-भेद के आधार पर एक कार्य का कारित्व और अकारित्व—ऐसे विरुद्ध धर्मों का सम्बन्ध एक व्यक्ति में नहीं प्राप्त होगा। फलतः बौद्ध-मत में जैसे क्षणिक एक वस्तु में नानात्व नहीं प्रसक्त होता वैसे ही न्यायादिमत में स्थिर एक वस्तु में भी नानात्व नहीं प्रसक्त हो सकता।

हाँ, यदि किसी दृष्टिभेद से, एक कार्य का कारित्व और अकारित्व—इन विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों के सम्बन्ध की स्थापना एक व्यक्ति में करनी ही हो तो उसके लिये निमित्त-भेद का अनुसन्धान करना चाहिये।

विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों में से किसी एक ही का सम्बन्ध एक व्यक्ति में स्वीकार करना उचित है क्योंकि उस स्थिति में निमित्त-भेद की कल्पना का आयास न करना होगा। हे जिनेन्द्र ! ऐसा आप के समक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि आप उन सभी नयभेदों के अध्यक्ष हैं जिनके आधार पर एक व्यक्ति में भी अनेक आकार के व्यवहार होते हैं और जिनका सामञ्जस्य करने के लिये आपने प्रत्येक वस्तु के क्रोड में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनन्त धर्मों के अस्तित्व का उपदेश किया है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनन्त धर्मों का आश्रय बताया है।

भाव यह है कि लोकसिद्ध व्यवहार के अनुरूप ही विषय-वस्तु की कल्पना उचित होती है न कि कल्पना के अनुरूप व्यवहार की व्यवस्था। अतः जो शास्त्रकार व्यवहार के ऊपर अपनी कल्पना का दबाव डालते हैं अर्थात् जिनके वस्तुवर्णन के अनुसार व्यवहार के यथास्थित रूप का निर्वाह नहीं होता वे

लोक-सम्मान के अधिकारी नहीं हो सकते। जैन शास्त्रकार वैसा नहीं करते उनके वस्तु-वर्णन में व्यवहार के यथाप्राप्त रूप की रक्षा-दक्षता विद्यमान रहती हैं इसलिये समस्त मेघावीवर्ग का समर्थन और समादर उन्हीं को प्राप्त होना चाहिये !

यत्कारणं जनयतीह यदेकदा तत्
तत्सर्वदैव जनयेन्न किमेवमादि ।
प्राक्पक्षयोः कलितदोषगणेन जाति-
व्यक्त्योर्निरस्यमखिलं भवता नयेन ॥ १७ ॥

जो कारण किसी एक काल में जिस कार्य का जनन करता है वह अपने समग्र स्थिति-काल में उसका जनन करता है और जो जिस कार्य का जनन अपनी स्थिति के किसी एक क्षण में नहीं करता वह अपने समग्र स्थिति-काल में उसका जनन नहीं करता। इस प्रकार की व्याप्तियों की नींव पर भी तर्क और विपरीतानुमान के महल नहीं खड़े किये जा सकते क्योंकि जाति और व्यक्ति-इन दोनों पक्षों में जैन दर्शनकार के नैगम आदि नयों से प्रवृत्त होनेवाले न्यायनय से जिस दोष-समूह का उल्लेख पहले किया गया है उसी से उक्त व्याप्तियों के बल पर होने वाले समस्त तर्क और विपरीतानुमानों का निरास हो जाता है। अर्थात् जैसै साधारण तृण के छेदन में कुठार जैसे महान् अस्त्र की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही ऐसे असत् पक्षों के खण्डनार्थ जिसमें सभी प्रमाणों का समन्वय है ऐसे स्याद्वाद की आवश्यकता नहीं होती किन्तु वह कार्य अङ्गभूत प्रमाण से ही हो जाता है।

श्लोक की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार समझनी चाहिये :—

जो वस्तु एक काल में जिस कार्य को उत्पन्न करतीं है वह अपने जीवन के पूरे काल में उस कार्य को उत्पन्न करती है, यह नियम है। इसके दृष्टान्त बौद्ध और न्याय दोनों मतों में मिलते हैं। बौद्ध-मत से शब्दमात्र दृष्टान्त हो सकता है क्योंकि उस मत में शब्द का जीवन जन्मक्षण ही तक सीमित है और वह अग्रिम शब्द का जनन अपने जीवन के पूरे काल में करता है। न्यायमत में एक शब्द की धारा का अन्तिम शब्द भी अपने जन्मक्षणमात्र में ही जीवित रहता है, अतः उस मत से यह अन्तिम शब्द दृष्टान्त हो सकता हैं। इस व्माप्ति के आधार पर यह तर्क खड़ा हो सकता है कि अङ्कुर-कारी बीज यदि अनेक क्षणों तक स्थिर रहे तो उसे अनेक क्षण तक अङ्कुर का जनन करना चाहिये।

जो किसी एक काल में जिस कार्य का जनन नहीं करता वह अपने जीवन भर उसे नहीं करता, जैसे पत्थर का टुकड़ा किसी काल में अङ्कुर का जनन न

करने के कारण अपने जीवन भर उसका जनन नहीं करता। इस व्याप्ति के बल पर यह विपरीतानुमान खड़ा हो सकता है कि बीज को जीवन में कभी भी अङ्कुर का जनन नहीं करना चाहिये क्योंकि कुसूल में रहने के समय वह अङ्कुर का जनन नहीं करता।

इस तर्क और विपरीतानुमान के फलस्वरूप कोई वस्तु स्थिर नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि स्थिरता-पक्ष में उक्त तर्क के अनुसार एक बीज से लगातार अनेक बीज पैदा होते रहने की आपत्ति खड़ी होती है और उक्त विपरीतानुमान के अनुसार क्षेत्र में सविधि बोये गये बीज से भी अङ्कुर न पैदा होने की बिभीषिका खड़ी होती है, अतः वस्तुमात्रको क्षणिक मानना ही न्याय्य है।

नैयायिक की ओर से इस बौद्धकथन का उत्तर इस प्रकार है—

उक्त तर्क और विपरीतानुमान नहीं हो सकते क्योंकि वे जिन नियमों के बल पर खड़े किये गये हैं वे जाति या व्यक्ति किसी पक्ष में नहीं बन सकते।

जाति-पक्ष में उक्त नियम के ये दो आकार होंगे—

(१) जिस जाति का कोई व्यक्ति किसी एक समय में जिस कार्य को करता है उस जाति का कोई न कोई व्यक्ति उस कार्य को अपनी स्थिति के सारे समय में करता है।

(२) जिस जाति का एक भी व्यक्ति अपनी स्थिति के पूरे समय में जिस कार्य को नहीं करता उस जाति का कोई भी व्यक्ति उस कार्य को कदापि नहीं करता।

इनमें पहला नियम बीज जाति के किसी एक ही व्यक्ति में उसकी स्थिति के पूरे समय में अङ्कुरकारिता का आपादन करता है। अतः शेष सभी बीजों में काल-भेद से अङ्कुर की कारिता और अकारिता मानने में कोई विरोध नहीं होता। फलतः इन स्थिर बीजों में सत्ता-हेतु क्षणिकता का व्यभिचारी हो जायगा, अतः उस हेतु से विश्व की क्षणिकता का साधन न हो सकेगा।

दूसरा नियम बीजमात्र में अङ्कुरकारिता के अभाव का अनुमान कराने मे प्रवृत्त होता है। किन्तु यह नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे नियम में हेतु की असिद्धि और बाध ये दो दोष होंगे। हेतु की असिद्धि बौद्ध-मत में होगी क्योंकि वे लोग क्षेत्रस्थ क्षणिक बीज को उसके जीवन के सारे समय में अङ्कुर-कारी मानते हैं। बाध दोष दोनों मतों में होगा क्योंकि सहकारि-युक्त बीज में अङ्कुरकारिता दोनों मतों में मानी जाती है।

व्यक्ति-पक्ष में उस नियम के ये दो आकार होंगे—

(१) जिस जाति का कोई व्यक्ति किसी एक समय में जिस कार्य को

करता है उस जाति के सारे व्यक्ति अपनी स्थिति के पूरे समय में उस कार्य को करते हैं।

(२) जिस जाति का कोई व्यक्ति अपने पूरे समय में जिस कार्य को नहीं करता उस जाति का कोई व्यक्ति कदापि उस कार्य को नहीं करता।

इन दोनों ही नियमों में व्याप्यत्वासिद्धि होगी, क्योंकि बौद्ध और न्याय दोनों ही मतों में कुछ बीज अङ्कुर के उत्पादक और कुछ बीज अङ्कुर के अनुत्पादक माने जाते हैं। पाषाण-खण्ड में सहकारियों का सन्निधान होने पर भी जो सार्वदिक अङ्कुरानुत्पादकता है वह इसलिये कि उसमें अङ्कुर की स्वरूप-योग्यता ही नहीं है, एवं बीज में जो कादाचित्क अङ्कुरानुत्पादकता है वह इसलिये कि उसमें सहकारियों का सन्निधान सार्वदिक नहीं है।

तस्यैव तेन हि समं सहकारिणा
च सम्बन्धतद्विरहसंघटना विरोधः।
ध्वस्तस्तवैव जिनराज ! नयप्रमाणै-
र्न स्यात् प्रभुः कथमिह क्षणिकत्वसिद्ध्यै ॥ १८ ॥

उस एक ही व्यक्ति में उसी सहकारी के सम्बन्ध और असम्बन्ध की संघटना-अस्तिता विरुद्ध है। अतः जिस सहकारी का सम्बन्ध जिसमें नहीं है उसे उस सहकारी के सम्बन्धी से भिन्न मानना होगा और इस भिन्नता के उपपादनार्थ क्षणिकता का स्वीकार भी अवश्यमेव करना होगा। यह बौद्ध-कथन, हे जिनराज ! सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारे नय और प्रमाणों द्वारा उक्त विरोध का परिहार हो जाता है। अतः वह विरोध क्षणिकता का साधन करने में किसी भी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता।

पूर्व कारिका की व्याख्या में नैयायिक की ओर से जो यह बात कही गयी कि एक ही कारण में सहकारियों के सन्निधान और असन्निधान से एक ही कार्य की उत्पादकता और अनुत्पादकता दोनों सम्भव हैं। उस पर बौद्धों की आलोचना निम्न प्रकार की है।

कुसूलस्थ बीज में हवा, पानी, धूप, मिट्टी आदि सहकारियों का सम्बन्ध नहीं होता और क्षेत्रस्थ बीज में होता है। एक ही वस्तु का सम्बन्ध और असम्बन्ध ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। दोनों का आश्रय एक नहीं हो सकता। इसलिये कुसूलस्थ और क्षेत्रस्थ बीज में परस्पर-भेद स्वीकार करना आवश्यक है।

इसी प्रकार पूर्वक्षणस्थ बीज में उत्तरक्षण में होने वाले कार्य के कारणों का सम्बन्ध नहीं है और उत्तरक्षणस्थ बीज में है, अतः पूर्व और उत्तरक्षण के

बीजों में उत्तर-क्षण-भावी कार्य के कारणों के सम्बन्ध और असम्बन्ध ऐसे विरोधी धर्मों के समावेश से भेद की सिद्धि अनिवार्य है। यह भेद पूर्वक्षणस्थ बीज का उत्तरक्षण में नाश होने ही पर सम्भव है। इस प्रकार बीज आदि वस्तुओं की क्षणिकता का निश्चय निष्कण्टक रूप से होता है।

इस बौद्ध आलोचन का जैनसम्मत उत्तर यह है कि स्याद्वाद प्रमाण की दृष्टि में उक्त धर्मों में एकान्त विरोध नहीं है। अतः उनके आश्रयों में एकान्त भेद भी नहीं हो सकता। फलतः पहले और दूसरे क्षण के बीज आदि पदार्थ दृष्टिभेद से परस्पर में भिन्न और अभिन्न होने के कारण क्षणिक भी हैं और स्थिर भी हैं। अर्थात् मूल-द्रव्य के रूप में स्थिर हैं और आगमापायी पर्यायों के रूप में क्षणिक हैं।

बौद्ध के उक्त आलोचन का न्यायसम्मत समाधान इस प्रकार है। बीज में जल आदि सहकारियों के सम्बन्ध और असम्बन्ध में जो विरोध बताया गया है, वह असङ्गत है। क्योंकि उसके जितने भी प्रकार सम्भाव्य हैं वे सब सदोष हैं। जैसे—

सम्बन्ध और असम्बन्ध के विरोध का अर्थ यदि यह हो कि बीज में जल आदि का जो संयोग है वह बीज रूप ही है, उससे भिन्न नहीं। क्योंकि संयुक्त-प्रतीति की उपपत्ति निरन्तरोत्पाद-व्यवधानहीन उत्पत्ति के द्वारा हो जाती है। अर्थात् संयुक्तता की प्रतीति उन्हीं दो पदार्थों में होती है जो एक ही देश-काल में उत्पन्न होते हैं, अतः एक देश-काल में उत्पत्ति रूप निरन्तरोत्पाद की ही संज्ञा संयोग है।

इसी प्रकार उस बीज में जल आदि के सम्बन्धों का जो अभाव कुसूल-स्थिति-दशा में है, वह भी बीजरूप ही है। क्यों कि अभाव की अधिकरण-भिन्नता अप्रामाणिक है। इस प्रकार जल आदि के संबन्ध और असम्बन्ध इन दोनों के एक बीज रूप हो जाने से उन दोनों में भी एकरूपता आ जाती है। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्यों कि किसी वस्तु का अपने अभाव के साथ एकीभाव विरुद्ध है।

सम्बन्ध और असम्बन्ध के विरोध का अर्थ यदि यही हो तो यह सर्वथा असंगत है। क्यों कि न्याय-मत में बीज में जल आदि का जो संयोग और उसका अभाव है, वह बीज से भिन्न है। यदि वह बीज से भिन्न न होगा तो बीज में जल आदि के संयोग और अभाव की सर्वसंमत आश्रयता की प्रतीति का लोप हो जायगा, क्योंकि आश्रयाश्रयिभाव भिन्न वस्तुओं में ही नियत है।

जिस बीज में जल आदि सहकारियों का सन्निधान होता है उसमें कभी भी उनका असन्निधान नहीं हो सकता। यह तो तब सम्भव होता जब उनका

अभाव होता। परन्तु उनका अभाव नहीं माना जा सकता। क्योंकि असत् का अस्तित्व और सत् का अभाव सिद्धान्तविरुद्ध है। अतः यदि जल आदि का सम्बन्ध बीज में असत् माना जायगा तो कभी उसका अस्तित्व नहीं होगा और और यदि सत् माना जायगा तो कभी उसका अभाव नहीं हो सकता। इस लिये जिस देश-काल का बीज अङ्कुर का उत्पादन करता है उस देश-काल के बीज में सहकारियों का सन्निधान ही है एवं अन्य देश-काल के बीज में उनका असन्निधान ही है।

सम्बन्ध और असम्बन्ध के विरोध का यदि यह अर्थ हो तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि न्याय और बौद्धमत में असत् कार्य की ही उत्पत्तिलक्षण सत्ता और उत्पन्न हुये सत्कार्य की ही निवृत्तिलक्षण असत्ता मानी जाती है।

परस्पर-सम्बन्ध योग्य समानकालिक वस्तुओं का असम्बन्ध होना उचित नहीं है। यदि कुसूलस्थ-बीज और जल आदि में परस्पर-सम्बन्ध की योग्यता और एककालीनता मानी जायगी तो वे असम्बद्ध नहीं रह सकते। अतः कुसूलस्थ-बीज में जल आदि के असम्बन्ध को देखते हुये यह मानना आवश्यक है कि उसमें जल आदि के सम्बन्ध की योग्यता नहीं है।

सम्बन्ध के लिये समानकालीनता के समान समानदेशता भी आवश्यक होती है। कुसूलस्थ बीज के सन्निहित स्थान में जल आदि नहीं हैं अतः बीज के साथ उनका असम्बन्ध है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भाव और अभाव का कालिक विरोध है। इस लिये कुसूलस्थिति-दशा में जल आदि से असम्बद्ध बीज ही कालान्तर में जल आदि से सम्बद्ध होता है। यह न्यायशास्त्र की मान्यता मान्य नहीं हो सकती।

सम्बन्ध और असम्बन्ध के विरोध-वर्णन का यदि यह भाव हो तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि भाव का उसके प्रागभाव और ध्वंस के ही साथ कालिक विरोध है, अत्यन्ताभाव के साथ नहीं। क्योंकि भाव-काल में भी अत्यन्ताभाव देशान्तर में रहता है। अतः जल आदि के सत्ता-काल में भी कुसूलस्थ बीज के निकट स्थान में जल आदि का अत्यन्ताभाव होने के कारण कुसूल-स्थिति-दशा में बीज में जल आदि का असम्बन्ध और क्षेत्रस्थिति-दशा में उसी बीज में जल आदि का सम्बन्ध हो सकता है। क्योंकि परस्पर सन्निधान-योग्य वस्तुयें यदि एक काल में रहती हैं तो उनका परस्पर सन्निधान होता ही है। यह नियम नहीं है।

जिस देश-स्थान में जो वस्तु रहती है उस देश-स्थान में उसका अभाव नहीं रहता। अतः एक बीज में जल आदि के सम्बन्ध और सम्बन्धाभाव

का अस्तित्व नहीं हो सकता । यदि सम्बन्ध-असम्बन्ध के विरोध का यह अर्थ हो तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह विरोध इस नियम के ऊपर निर्भर है कि दो सम्बन्धी वस्तुओं में एक की स्थिति दूसरी से दूर नहीं होती । परन्तु इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है ।

इस नियम के विना उक्त विरोध की सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये उक्त विरोध ही इस नियम का साधक होगा । क्योंकि यह सर्वसम्मत न्याय है कि जो जिसके बिना सिद्ध नहीं होता वह उसका साधक होता है । यह बात भी ग्रहण करने योग्य नहीं है । इसमें अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है, क्योंकि उक्त नियम की सिद्धि में उक्त विरोध की और उक्त विरोध की सिद्धि में उक्त नियम की अपेक्षा पड़ जाती है ।

जो पहले जिससे असम्बद्ध होता है उसमें बाद में उसका सम्बन्ध एवं जो पहले जिससे सम्बद्ध होता है उसमें बाद में उसका असम्बन्ध नहीं हो सकता । यह शङ्का भी सम्मान्य नहीं हो सकती । क्योंकि सम्बन्ध और असम्बन्ध भिन्न भिन्न प्रयोजकों के अधीन हैं । जिन वस्तुओं के परस्पर-सम्बन्ध के कारण जब एकत्र होते हैं तब उनका परस्पर-सम्बन्ध होता है और जब वे एकत्र नहीं होते तब असम्बन्ध होता है । अतः एक व्यक्ति में एक ही वस्तु के सम्बन्ध और असम्बन्ध के होने में कोई विरोध नहीं है ।

वस्तु का नाश निर्हेतुक है, अतः वस्तु का जन्म हो जाने पर उसके नाश में बिलम्ब नहीं हो सकता । क्योंकि कारण के विलम्ब से ही कार्य की उत्पत्ति में विलम्ब होता है । फिर जब नाश को कारण की अपेक्षा नहीं है तो उसके होने में देर क्यों होगी ? अतः जन्म के दूसरे क्षण में ही प्रत्येक वस्तु का नाश हो जाता है । अतः एक वस्तु का अनेक क्षणों में अस्तित्व न होने से उसमें कालभेद से किसी का सम्बन्ध और असम्बन्ध नहीं हो सकता ।

इस युक्ति से भी सम्बन्ध और असम्बन्ध के विरोध का समर्थन नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु-नाश की कारणनिरपेक्षता अप्रामाणिक है ।

देशभेद से एक काल में और कालभेद से एक देश में वस्तु के भाव और अभाव का समर्थन हो सकता है किन्तु एक ही देश काल में एक ही वस्तु के भाव और अभाव नहीं रह सकते । अतः एक बीज में एक काल में सहकारी के सम्बन्ध और असम्बन्ध की मान्यता ठीक नहीं है । इस प्रकार से भी स्थैर्य-पक्ष में विरोध का उद्भावन नहीं किया जा सकता । क्योंकि स्थैर्यवादी भी एक ही देश-काल में वस्तु का भाव और अभाव नहीं मानते और जिस वस्तु का एक देश-काल में भाव और अभाव मानते हैं उसका भी अवच्छेद-भेद अर्थात्

भागभेद से मानते हैं। जैसे एक ही वृक्ष में शाखा और मूल इन दो भागों में कपिसंयोग और उसका अभाव माना जाता है।

व्याप्त्यप्रदर्शनमिदं व्यतिरेकसिद्धा-
वप्युच्चकैः क्षतिकरं त्वदनाश्रवस्य।
श्वासादिकं ज्वर इवात्र च पक्षहेतु-
दृष्टान्तसिद्धिविरहादधिकोऽपि दोषः ॥ १९ ॥

हे परमेश्वर ! तुम सब कामनाओं से परे हो, किसी मतविशेष के प्रतिपादन में तुम्हारा कोई आग्रह नहीं है, जो सत्य है वही तुम निष्पक्ष-भाव से कहते हो, वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा क्षणिक—यही तुम्हारा निष्पक्ष, निर्मल उपदेश है, फिर भी बौद्ध इसे न मानकर विश्व की क्षणिकता का साधन करने का प्रयास करते हैं, परन्तु उनका प्रयास सफल नहीं हो सकता, क्योंकि बीज आदि वस्तुओं में क्षणिकता की सिद्धि न हो सकने के कारण सत्ता और क्षणिकता के अन्वयसहचार का भूयोदर्शन नहीं हो पाता, अतः सत्ता में क्षणिकता की अन्वयव्याप्ति का निश्चय नहीं होता। अतः जैसे अन्वयव्याप्ति का समर्थन एवं अन्वयव्याप्तिमूलक अनुमान का उपपादन उनके लिये अशक्य होता है उसी प्रकार 'जो क्षणिक नहीं वह सत् नहीं, तथा 'जो क्रम से अथवा युगपत् अर्थात् एक ही साथ अपने कार्यों को नहीं करता वह सत् नहीं' इन दो प्रकार के व्यतिरेक-नियमों की सिद्धि तथा तन्मूलक अनुमान भी नहीं हो सकते। क्योंकि जैसे अन्वय-व्याप्ति के निश्चय के लिये हेतु में साध्य-सहचार का भूयोदर्शन आवश्यक होता है उसी प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति के निश्चय के लिये भी साध्याभाव में साधनाभाव के सहचार का भूयोदर्शन अपेक्षित होता है, परन्तु प्रकृत में स्थैर्यवादी और क्षणिकवादी दोनों को सम्मत कोई ऐसा आश्रय नहीं है जिसमें साध्याभाव और साधनाभाव के सहचार का दर्शन हो। इस प्रकार अन्वयमूलक अनुमान के समान व्यतिरेकमूलक अनुमान में भी व्याप्त्यसिद्धि दोष है।

सब अनर्थों के मूलभूत कामनाओं से ऊँचे उठे हुये हे परमेश्वर ! तुम्हारे उपदेश में आस्था न रखने वाले बौद्ध की, सत्ता में क्षणिकता की अन्वयव्याप्ति के समर्थन की जो यह असमर्थता है, वह व्यतिरेक-सिद्धि—जो क्रमकारी तथा अक्रमकारी नहीं होता वह असत् होता है इस अभावाश्रयी नियम की सिद्धि में भी बाधक है। इसके अतिरिक्त ज्वर में श्वास वृद्धि, मूर्च्छा तथा प्रलाप आदि के समान उक्त व्यतिरेक-नियम की सिद्धि में अन्य भी दोष हैं जैसे पक्ष, हेतु, और दृष्टान्त की असिद्धि।

सारे विश्व में क्षणिकता का साधन करने के लिये, जो सत् होता है वह सभी क्षणिक होता है–ऐसे जिस अन्वय-नियम का अवलम्बन बौद्ध करते हैं, उसकी असिद्धि का वर्णन चौथी कारिका से अठारहवीं कारिका तक विस्तार से किया गया है। अब इस कारिका में व्यतिरेक-नियम तथा तन्मूलक अनुमान की भी असिद्धि बतायी जायगी जिससे उसका सहारा लेकर भी बौद्ध विश्व की क्षणिकता-साधन करने का मनसूबा न बांध सकें।

विश्व की क्षणिकता का साधन करने के लिये जिस व्यतिरेक-नियम का अवलम्बन बौद्ध करते हैं वह दो प्रकार का हो सकता है।

जैसे —

(१) जो क्षणिक नहीं होता वह सत् नहीं होता।

(२) अथवा जो क्रम एवं अक्रम दोनों प्रकार से कार्य का अनुत्पादक होता है वह असत् होता है।

इन दोनों नियमों में खरहे की सींग जैसे अलीक पदार्थ दृष्टान्तरूप से और स्थायीभाव पक्षरूप से प्रयुक्त होते हैं। इन व्यतिरेक-नियमों के बल स्थिर भाव की असत्ता का साधन होने से फलतः क्षणिक की सिद्धि सम्पादित होती है।

इस कारिका में निम्नांकित दोषों से इन व्यतिरेक-नियमों की तथा तन्मूलक अनुमान की असिद्धि का वर्णन है। वे दोष ये हैं पक्ष की असिद्धि, हेतु की असिद्धि और दृष्टान्त की असिद्धि।

पक्ष की असिद्धि—सन्दिग्ध साध्य के आधारभूत धर्मी को पक्ष कहा जाता है। इसकी असिद्धि कहीं साध्य के अभाव से और कहीं धर्मी के अभाव से होती है। प्रकृत बौद्धानुमान में असत्ता साध्य है और स्थायीभाव धर्मी है। इसलिये यहाँ बौद्धमत में स्थिर भाव रूप धर्मी की असिद्धि और अन्य मत में साध्य की असिद्धि होने से पक्ष की असिद्धि है। यह व्यतिरेकमूलक अनुमान में दोष है।

हेतु की असिद्धि—बौद्धमत में सत् में अक्रमकारिता तथा न्यायमत में क्रमकारिता का अभाव नहीं माना जाता। अतः किसी मत में सत् में क्रम—यौगपद्याभाव सिद्ध नहीं है। असत् में भी यह अभाव नहीं माना जा सकता। क्योंकि असत् स्वयं अप्रामाणिक है तो उसमें अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है। इसलिये उक्त हेतु की सिद्धि भी नहीं है। यह व्यतिरेक-नियम में दोष है।

दृष्टान्त की असिद्धि—जिस धर्मी में साध्य और साधन दोनों का सम्बन्ध वादी और प्रतिवादी दोनों को स्वीकृत हो उसे दृष्टान्त कहा जाता है। उक्त नियम में खरहे की सींग आदि दृष्टान्त बताये गये हैं। पर यह बात ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि खरहे की सींग जैसे पदार्थ अलीक हैं। अतः उनमें साध्य-साधन के सम्बन्ध की स्वीकृति वादी और प्रतिवादी को सम्मत नहीं हो सकती। यह भी व्यतिरेक-नियम में दोष है।

इन दोषों के समाधान में बौद्धों का कथन यह है कि जैसे शब्दप्रयोगात्मक व्यवहार में शब्दार्थ की सत्ता अपेक्षित नहीं होती किन्तु उसका ज्ञानमात्र अपेक्षित होता है और ज्ञान के लिये भी विषय का अस्तित्व आवश्यक नहीं होता क्योंकि सीपी में अविद्यमान चाँदी एवं रस्सी में अविद्यान साँप का ही ज्ञान होता है, इसलिये खरहे की सींग, कछुये का रोम, आकाश का फूल इस प्रकार के व्यवहार होते हैं। ठीक वैसे ही अनुमान में भी पक्ष, हेतु और दृष्टान्त की अस्तिता अपेक्षित नहीं होती किन्तु उनका ज्ञानमात्र अपेक्षित होता है और ज्ञान तो उनकी सत्ता न मानने पर भी हो सकता है। अतः कहे गये पक्षा-सिद्धि आदि दोषों की सम्भावना नहीं है, इसलिये उक्त व्यतिरेक-नियम के बल से होने वाले अनुमान में कोई बाधा नहीं हो सकती।

इस पर नैयायिक का कहना यह है कि व्यवहार भी व्यवहरणीय अर्थ के प्रामाणिक ज्ञान के विना नहीं होता, इसलिये असत्-सम्बन्धी व्यवहार स्वयं असिद्ध है फिर उसके दृष्टान्त से असत्पक्षादिमूलक अनुमान का समर्थन कैसे हो सकता है ?

इस पर बौद्ध की ओर से नैयायिक के प्रति यह प्रश्न किया जा सकता है कि नैयायिक को असत् की प्रामाणिकता के निषेध का व्यवहार सम्मत है या नहीं। यदि सम्मत न हो तो असत् की प्रामाणिकता प्रसक्त होगी और यदि सम्मत हो तो इस निषेध-व्यवहार के प्रामाणिक ज्ञान के विना ही होने से, 'व्यवहार अर्थ के प्रामाणिक ज्ञान के बिना नहीं होता' इस वचन का विरोध होगा। इसलिये नैयायिक को व्यवहार की प्रामाणिकज्ञानमूलकता का आग्रह छोड़ना होगा।

नैयायिक इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं—जिन शब्दों या वाक्यों का विशिष्ट अर्थ अप्रसिद्ध है उनका भावात्मक व्यवहार अर्थात् खरहे को सींग होती है या खरहे की सींग सुन्दर होती है ऐसा व्यवहार नहीं होता, क्योंकि उसका विषय प्रामाणिक नहीं है, पर निषेधात्मक व्यवहार अर्थात् 'खरहे को सींग नहीं होती' या 'खरहे की सींग में सौन्दर्य नहीं होता' ऐसा व्यवहार हो

सकता है क्योंकि इन व्यवहारों में किसी अप्रामाणिक वस्तु का होना नहीं बताया जाता किन्तु एक स्थान में स्थानान्तर-सिद्ध वस्तु का असम्बन्ध बताया जाता है। जैसे खरहे को सींग नहीं होती इस व्यवहार में प्रमाण-सिद्ध खरहे में पश्वन्तर के प्रमाणसिद्ध सींग के सम्बन्ध का निषेध बताया जाता है और 'खरहे की सींग में सौन्दर्य नहीं होता' इस व्यवहार में प्रमाणसिद्ध सींग में खरहा और सौन्दर्य के सम्बन्ध का अभाव बताया जाता है। अर्थात् इस वाक्य का भावार्थ यह है कि सींग में केवल सौन्दर्य का अस्तित्व हो सकता है पर खरहे का सम्बन्ध और सौन्दर्य इस उभय का अस्तित्व नहीं हो सकता। इस प्रकार निषेध-व्यवहार में किसी अप्रामाणिक वस्तु की चर्चा न होने के कारण वह मान्य हो सकता है, पर अप्रसिद्ध अर्थवाले शब्दों या वाक्यों का भाव–व्यवहार नहीं मान्य हो सकता।

व्यवहार ज्ञानतन्त्र होता है—यह बात तो मान्य है क्योंकि अज्ञात वस्तु को व्यवहारविषयता नहीं होती, पर व्यवहार प्रमाणतन्त्र है यह बात मानने योग्य नहीं है क्योंकि अप्रमित वस्तु को भी व्यवहारविषयता होती है, जैसे खरहे में, अप्रमित सींग के सम्बन्ध का 'खरहे को सींग होती है' इस प्रकार का अप्रामाणिक व्यवहार होता है। दूसरा कारण यह भी है कि व्यवहार के प्रति ज्ञान को ज्ञानत्वरूप से कारण मानने में लाघव है और प्रमाण को प्रमाणत्व—प्रमात्व रूप से कारण मानने में गौरव है, इसलिये भी व्यवहार को ज्ञानतन्त्र ही मानना चाहिये, प्रमाणतन्त्र नहीं।

बौद्ध का यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि इस व्यवस्था के आधार पर भी असत्-सम्बन्धी व्यवहार का समर्थन नहीं हो सकता। कारण यह है कि असत्-सम्बन्धी व्यवहार का उपपादन जिस असत्-गोचर ज्ञान के बल से किया जायगा उसे यथार्थ-ख्याति, अन्यथाख्याति या असत्-ख्याति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यथार्थख्याति अर्थ के विना नहीं होती अतः वह असत् में प्रवृत्त नहीं हो सकती। अन्यथाख्याति मानने में तो 'असत् ज्ञान का विषय नहीं होता' इस नैयायिकमत की ही विजय होगी क्योंकि अन्यथा-ख्याति के सभी विषय जैसे धर्मी, धर्म और सम्बन्ध सत् ही होते हैं। और असत्ख्याति तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि ज्ञान के कारणों की सत् वस्तु के ही ज्ञान-सम्पादन में सामर्थ्य होती है, असत् के नहीं।

अतः असत्सम्बन्धी व्यवहार के दृष्टान्त से असत्पक्षादिमूलक अनुमान का उपपादन नहीं किया जा सकता।

आदाय सत्त्वमपि न क्रमयौगपद्ये
नित्यान्निवृत्य बिभृतः क्षणिके प्रतिष्ठाम्।

यत्र त्वदीयनयवाङ्नगरीगरीय-
श्चित्रस्वभावसरणौ भयतो निवृत्तिः ॥ २० ॥

क्रम और यौगपद्य अर्थात् क्रमकारित्व—एक कार्य करने के बाद दूसरा कार्य करना, युगपत्कारित्व—अपने सभी कार्यों को एक ही साथ करना, ये हो दो कार्यकारिता के प्रकार हो सकते हैं। इनमें से कोई भी प्रकार स्थायी पदार्थ में सम्भव नहीं है, अतः स्थायी पदार्थ में कार्यकारिता अर्थात् सत्ता नहीं मानी जा सकती। क्षणिक पदार्थ में यौगपद्य अर्थात् अपने सभी कार्यों को एक ही साथ करना सम्भव है, अतः उसीमें कार्यकारिता अर्थात् सत्ता का स्वीकार उचित है। यह बौद्ध-कथन संगत नहीं है, क्योंकि स्थायी पदार्थ में क्रमकारिता मानने में कोई दोष नहीं है अतः क्रमयौगपद्याभाव से उसमें सत्ता का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता।

ग्रन्थकार तीर्थंकर को सम्बोधित करते हुये कहता है कि हे भगवन्! वस्तुतः सत्ता न सर्वथा स्थायी पदार्थ में सुरक्षित हो सकती और न सर्वथा क्षणिक पदार्थ में, किन्तु तुम्हारी नयवाणी की नगरी के श्रेष्ठ चित्रस्वभाव-रूपी राजमार्ग पर स्याद्वाद के महारथ में अर्थात् कथंचित् स्थायी और कथंचित् क्षणिक रूप से स्वीकृत अनेकान्तात्मक पदार्थ में ही सुरक्षित हो सकती है, अतः वस्तु को न एकान्त स्थिर ही मानना चाहिये और न एकान्त क्षणिक ही किन्तु उभयात्मक मानना चाहिये।

क्षणिकवादी बौद्ध का तात्पर्य यह है कि सत्ता अर्थक्रियाकारिता अर्थात् कार्यजनकता-रूप है, अतः कार्यजनक वस्तु की ही सत्ता स्वीकार्य है। स्थायी वस्तु में कार्यजनकता नहीं हो सकती अतः उसकी सत्ता अमान्य है। स्थायी वस्तु के कार्यजनक न होने का कारण यह है कि कार्यजनकता के दो ही प्रकार हो सकते हैं, क्रमकारिता—एक कार्य करने के बाद दूसरा कार्य करना, अथवा युगपत्कारिता—अपने सभी कार्यों को एक ही साथ करना। इनमें दूसरा प्रकार तो क्षणिक ही वस्तु में रह सकता है—स्थायी में नहीं, क्योंकि जब वस्तु अपने सभी कार्यों को एक ही साथ करेगा तो अपने पहले कार्य के समय ही अपने सब कार्यों को कर डालेगा अर्थात् वस्तुजन्म के दूसरे क्षण में ही उसके सारे कार्य सम्पन्न हो जांयगे, फिर जब तीसरे क्षण में उसका कोई कार्य होने को बाकी ही नहीं तो दूसरे क्षण में उसका अस्तित्व मानने की आवश्यकता ही क्या? क्योंकि कार्य-जन्म के पूर्व-क्षण में कारण की सत्ता माननी पड़ती है, और दूसरा क्षण कार्यजन्म का पूर्व क्षण नहीं है किन्तु वही सभी कार्यों का जन्मक्षण है।

स्थायी वस्तु में क्रमकारिता की सम्भावना की जा सकती है किन्तु उसमें अनेक दोष हैं, जैसे जो वस्तु क्रम से अपने कार्यों को करती है वह पहले कार्य को करने के समय दूसरे कार्यों को करने में समर्थ है या नहीं ? यदि नहीं तो बाद में भी वह समर्थ नहीं हो सकती क्योंकि यही वस्तु का स्वभाव है कि जो वस्तु एक बार जिस कार्य को करने में असमर्थ होती है वह सदा उसे करने में असमर्थ ही रहती है, जैसे पाषाण का कण अङ्कुर पैदा करने में। और यदि वह पहले कार्य के समय दूसरे कार्यों को करने में समर्थ है तो उसी समय सारे कार्य हो जाने चाहिये, क्योंकि समर्थ कारण के रहते कार्य का न होना संगत नहीं हैं।

इस पर नैयायिक कह सकते हैं कि समर्थ कारण के रहते भी सहकारियों का सन्निधान न होने तक कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जिस जाति का एक पदार्थ सहकारी कारणों के सन्निधान में जिस जाति के कार्य को उत्पन्न करता है उसी जाति का पदार्थान्तर सहकारी कारणों के असन्निधान में उस जाति के कार्य को नहीं उत्पन्न करता, जैसे क्षेत्रस्थ बीज मिट्टी, जल आदि सहकारियों के सन्निधान में अङ्कुर को उत्पन्न करता है किन्तु उसी जाति का कुसूलस्थ बीज उन सहकारियों का सन्निधान न पाने के कारण अङ्कुर को नहीं उत्पन्न करता। अतः यही सर्वसम्मत मत है कि प्रत्येक कारण सहकारियों का सहयोग पाकर ही अपने कार्य उत्पन्न करता है, भिन्न-भिन्न कार्य के सहकारियों का सन्निधान क्रम से होता है अतः भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पत्ति क्रम से ही होती है, इस प्रकार स्थायी वस्तु के क्रमिककार्यकारिता मानने में कोई दोष नहीं है।

इसके उत्तर में बौद्धों का कथन यह है कि सहकारी कारणों की अपेक्षा किसी प्रयोजन के लिये ही स्वीकार्य हो सकती है, किन्तु उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जैसे उनका प्रयोजन क्या है ?

(१) अपेक्षा करनेवाले कारण के स्वरूप का सम्पादन करना।
(२) या उस में कोई उपकार उत्पन्न करना।
(३) अथवा उसके कार्य का जनन करना।

इनमें पहिला प्रयोजन नहीं माना जा सकता क्योंकि अपेक्षा करने वाले कारण का स्वरूप सहकारी के सन्निधान के पहले ही से सिद्ध रहता है।

दूसरा भी प्रयोजन माननीय नहीं हो सकता, क्योंकि अपेक्षा करने वाला कारण यदि अपने कार्य में समर्थ हो तो उसे किसी के उपकार की आवश्यकता

नहीं और यदि असमर्थ हो तो उपकार से कोई लाभ नहीं। क्योंकि जो पदार्थ जिस कार्य में समर्थ नहीं होता वह लाख सहायता पाने पर भी उसे नहीं कर सकता, जैसे जन्मान्ध मनुष्य सूर्य के प्रोज्ज्वल प्रकाश में अञ्जन, उपनेत्रक आदि के द्वारा भी पास में पड़ी चीजों को नहीं देख पाता।

तीसरा प्रयोजन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि कारण यदि अपने कार्य में समर्थ हो तो उसे किसी सहायक की कोई आवश्यकता नहीं और यदि असमर्थ हो तो सहस्रों सहायकों का सहयोग होने से भी कोई लाभ नहीं।

इस पर नैयायिक की ओर से यह कहा जा सकता है कि कारण को सहकारिसापेक्ष मानने में जब ये दोष हैं तब उसे सहकारिसापेक्ष नहीं माना जायगा किन्तु कार्य को ही सहकारिसापेक्ष माना जायगा। तात्पर्य यह है कि एक कारण मात्र से भी किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु कारणसमुदाय से होती है, अर्थात् किस कार्य के जितने कारण होते हैं उन सबों के एकत्र होने पर ही वह कार्य होता है। अतः कार्य अपने स्वरूपलाभ के लिये अपने सभी कारणों की अपेक्षा करता है। क्रम से होने वाले विभिन्न कार्य क्रम से ही कारणसमुदाय का सह-अवस्थान प्राप्त करते हैं, अतः क्रम से ही उनका जन्म होता है। इस प्रकार स्थायी पदार्थ में क्रमकारिता मान्य हो सकती है, परन्तु यह भी ठीक नहीं है। क्यों कि कार्य स्वतन्त्र नहीं होता किन्तु कारण-परतन्त्र होता है, और जो परतन्त्र होता है वह स्वतन्त्र रूप से किसी की अपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु जिसके परतन्त्र होता है उसके द्वारा ही किसी की अपेक्षा कर सकता है। अतः जब कारण सहकारिसापेक्ष नहीं होता तो कार्य सहकारिसापेक्ष कैसे हो सकता है?

कारण के सहकारिसापेक्ष होने में प्रयोजनानुपपत्ति तो बाधक है ही। साथ ही अपेक्षा पदार्थ की अनिर्वचनीयता भी बाधक है। जैसे कारण सहकारियों की अपेक्षा करता है—इससे कारण का कौन सा स्वभाव वर्णित होता है?

(१) कारण सहकारी कारणों के सन्निधान में कार्य को उत्पन्न करता है—यह स्वभाव,

(२) कारण सहकारी कारणों के असन्निधान में कार्य को नहीं उत्पन्न करता—यह स्वभाव,

(३) अथवा कारण सहकारि-कृत उपकार को पाकर कार्य को उत्पन्न करता है यह स्वभाव,

इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्यों कि उस पक्ष में सहकारी का सन्निधान प्राप्त करना तथा उसे प्राप्त कर कार्य उत्पन्न करना—ये दोनों अंश कारण-

स्वभाव के मध्य में आ जाते हैं अतः कारण में इन दोनों अंशों का अस्तित्व सर्वदा मानना होगा, क्यों कि कोई पदार्थ अपने स्वभाव का त्याग कर नहीं रहता। फलतः कोई कारण कभी भी कार्य का अनुत्पादक न हो सकेगा।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्यों कि उस पक्ष में सहकारी का असन्निधान और सहकारी के असन्निधान में कार्य को उत्पन्न न करना ये दोनों अंश कारण-स्वभाव के मध्य में प्रविष्ट हैं। अतः कारण इन दोनों अशों से रहित कभी नहीं हो सकता, क्यों कि वस्तु का स्वभाव-शून्य होकर रहना वस्तु-मर्यादा के विरुद्ध है। फलतः कोई कारण कभी भी सहकारी का सन्निधान पाकर कार्य को उत्पन्न न कर सकेगा।

सहकारियों के सन्निधान में कार्य को करना और उनके असन्निधान में कार्य को न करना ये दोनों ही कारण के स्वभाव हैं—यह बात भी ठीक नहीं मानी जा सकती, क्यों कि ये दोनों धर्म एक दूसरे के विरोधी हैं अतः एक व्यक्ति में इन दोनों का समावेश हो ही नहीं सकता, फिर इन दोनों को एक का स्वभाव मानना तो नितान्त असंगत है।

स्वभाव का तीसरा प्रकार भी मानने योग्य नहीं है, क्यों कि वस्तु अपने स्वभाव का परित्याग कभी नहीं करती। अतः कारण में सहकारि-कृत उपकार और उसके द्वारा कार्य की उत्पादकता सर्वदा माननी होगी। फलतः कोई भी कारण कभी सहकारि-कृत उवकार से हीन तथा कार्य का अनुत्पादक न होगा।

इस तीसरे स्वभाव के स्वीकार-पक्ष में इस दोष से अतिरिक्त दोष भी है और वह है कई प्रकारों से अनवस्था का प्रसङ्ग। जैसे—

(१) कारण जिस प्रकार अपने प्रसिद्ध कार्य के जनन में सहकारी का साहाय्य चाहता है उसी प्रकार वह स्वगत उपकार के जनन में भी सहकारी का साहाय्य चाहेगा। अन्यथा सब काल में उपकार के जन्म की आपत्ति होगी। सहकारी भी जैसे उपकार द्वारा कार्य के जनन में कारण के सहायक होते हैं उसी प्रकार उपकार के जनन में भी उपकार-द्वारा ही सहायक होंगे, यही न्याय दूसरे उपकार के जनन में भी उपकार द्वारा ही सहायक होंगे, यही न्याय दूसरे उपकार के जनन में भी लगेगा, इस प्रकार उपकार-कल्पना में अनवस्था होगी।

(२) कारण जैसे सहकारि-जन्य उपकार को पाकर ही अपने प्रसिद्ध कार्य का जनन करता है वैसे ही उपकार का जनन भी सहकारि-कृत उपकारान्तर

को पाकर ही करेगा, और यही न्याय उपकारान्तर के बारे में भी लागू होगा, अतः इस पद्धति से भी उपकार-कल्पना में अनवस्था प्रसक्त होगी।

(३) सहकारि-कृत उपकार अपने आश्रयभूत कारण से अभिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभिन्न मानने पर आश्रयभूत कारण के रूप से वह सहकारियों के सन्निधान से पहले भी रहेगा, अतः सहकारी के सन्निधान की अपेक्षा न होगी। और यदि उसे आश्रयभूत कारण से भिन्न माना जायगा तो उसके जन्म से भी कारण में कोई वैशिष्ट्य न होने के नाते कोई लाभ न होगा। इस दोष के परिहारार्थ यदि उपकार को भी उपकारान्तर का जनक माना जायगा तो उपकारान्तर में भी इसी न्याय के प्रवृत्त होने से पुनः उपकार-कल्पना में अनवस्था का प्रसङ्ग होगा।

बौद्ध के कथनानुसार क्षणिकपक्ष में ये दोष नहीं होते, क्योंकि सहकारियों की अपेक्षा का प्रयोजन है कारणों के परस्पर-साहित्य-परस्पर-योग से कार्य का जनन करना, अतः प्रयोजनानुपपत्ति दोष नहीं है। अपेक्षा पदार्थ की अनिर्वचनीयता का भी दोष नहीं है क्योंकि एक कारण में कारणान्तर की अपेक्षा का अर्थ है कारणान्तर का साहित्य, और यह कारण का स्वभाव है। तात्पर्य यह है कि क्षणिकपक्ष में कार्य का उत्पादन करने वाले व्यक्ति ही उस कार्य के कारण माने जाते हैं; और जो अनुत्पादक होते हैं वे उत्पादक के सजातीय होने पर भी कारण नहीं माने जाते, अतः जिस कार्य के जितने कारण होते हैं वे सब एकत्र होकर कार्य को उत्पन्न करते हैं—यही कारणों का स्वभाव है और यही कारणों की परस्पर-सापेक्षता का अर्थ है। इस मत में यौगपद्य युगपत् कार्यकारित्व ही वस्तु-स्वभाव के रूप में माना जाता है।

इतने वाग्विस्तार का निष्कर्ष यही है कि क्षणिक में क्रम-यौगपद्याभाव नहीं है किन्तु स्थायी वस्तु में हैं, अत; व्यापकाभाव से व्याप्याभाव के अनुमान की प्रणाली से क्रमयौगपद्याभाव से सत्ताऽभाव का साधन स्थायी पदार्थ में होगा और फलतः विश्व की क्षणिकता सिद्ध होगी।

इस बौद्ध-वाद के उत्तर में नैयायिक का समाधान यह है कि जैसे सत्ता और क्षणिकता के सहचार के भूयोदर्शन का स्थल न मिलने से अन्वयव्याप्तिका—अनिश्चय—व्याप्त्यसिद्धिरूप दोष होता है वैसे ही क्रमयौगपद्याभाव और सत्ताऽभाव के सहचारका भी दर्शन-स्थल न होने से व्यतिरेकव्याप्ति अर्थात् क्रम-यौगपद्याभाव में सत्ताऽभाव की व्याप्ति की भी असिद्धि होगी।

इस अनुमान में उक्त दोष से अतिरिक्त दोष भी है, और वह है पक्ष में

हेतु की असिद्धि, क्योंकि स्थायी पदार्थ में क्रमकारिता की उपपत्ति हो जाने से उसमें क्रम-यौगपद्याभाव रूप हेतु का अभाव है।

क्रमकारितापक्ष में एक कार्य के समय अन्य सभी कार्यों के जन्म होने की जो आपत्ति उद्भावित की गयी थी, वह नहीं हो सकती, क्योंकि एककार्य के समय अन्य कार्यों के सहकारी कारणों के असन्निधान से कार्यान्तर के जन्म की आपत्ति का परिहार हो सकता है। तात्पर्य यह है कि सहकारियों के सन्निधान में कार्य को करना और उनके असन्निधान में कार्य को न करना ये दोनों ही कारण के स्वभाव हैं। ये दोनों धर्म एक व्यक्ति में समाविष्ट होते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं अतः इनमें विरोध नहीं माना जा सकता।

सहकारियों के सन्निधान में कार्य करना—यह जिस व्यक्ति का स्वभाव होगा, सहकारियों के असन्निधान में कार्य न करना—यह उस व्यक्ति का स्वभाव नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों धर्म स्पष्ट रूप से परस्पर विरोधी हैं, इस आक्षेप के उत्तर में नैयायिक का कथन यह है कि जो कारण अपने जिस कार्य के अन्य कारणों का सन्निधान जब प्राप्त करता है तब वह कारण उस कार्य को करता है, और जब नहीं प्राप्त करता तब नहीं करता—यह कारण का स्वभाव माना गया है, और इस में कोई दोष नहीं है।

नाशोऽत्र हेतुरहितो ध्रुवभाविताया-
स्तेनागतं स्वरसतः क्षणिकत्वमर्थे।
इत्येतदप्यलमनल्पविकल्पजालै-
श्छिद्यते तव नयप्रतिबन्दितश्च ॥ २१ ॥

पैदा होने वाले भाव पदार्थ का नाश कारणनिरपेक्ष है क्योंकि वह अवश्यम्भावी है और जो अवश्यम्भावी होता है उसके होने में देर नहीं होती यह एक निश्चित नियम है, इसलिये विना किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा किये ही पदार्थ की क्षणिकता सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जब नाश कारणनिरपेक्ष है तो उसके होने में विलम्ब नहीं हो सकता, क्योंकि कारण के सन्निधान में विलम्ब होने से ही कार्य की उत्पत्ति में विलम्ब होता है, पदार्थ-नाश में प्रतियोगी पदार्थ से अतिरिक्त किसी कारण की अपेक्षा नहीं है, अतः पदार्थ की उत्पत्ति हो जाने पर उसका नाश सद्यः हो जाता है, इस प्रकार प्रत्येक पैदा होने वाले पदार्थ का उसके दूसरे क्षण में ही नाश हो जाने के नाते प्रत्येक जन्य पदार्थ क्षणिक होता है, क्षणिकवादी के मत में न पैदा होने वाला कोई पदार्थ नहीं है अतः उक्त रीति से सारा विश्व ही क्षणिक सिद्ध होता है।

इस पर तीर्थंकर को सम्बोधित कर ग्रन्थकार का कहना है कि हे भगवन् ? बौद्ध का यह उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि तुम्हारे नय की प्रतिबन्दी से तथा ध्रुवभाविता-अवश्यंभाविता रूप हेतु के स्वरूप के बारे में उठने वाले सभी विकल्पों के दोषग्रस्त होने से उक्त कथन का सर्वथा निरास हो जाता है।

नयप्रतिबन्दी का प्रकार यह है—

नाश में नश्यमान पदार्थ से अतिरिक्त कारण की निरपेक्षता मान कर यदि पदार्थ के दूसरे क्षण में उसके नाश की कल्पना की जायगी तो पदार्थ की स्थिति में भी उससे अतिरिक्त कारण की अपेक्षा न मानकर पदार्थ के अगले क्षणों में उसके स्थिर होने की कल्पना प्रसक्त होगी, फिर पदार्थ की क्षणिकता या स्थिरता का निर्णय कैसे हो सकता है ?

जो जिसको ध्रुवभावी होता है वह उसके बाद में होने वाले कारण की अपेक्षा नहीं करता, जैसे क्रियावान् पक्षी आदि का संयोगी वृक्ष आदि से होने वाला विभाग क्रिया के बाद में होने वाले कारण की अपेक्षा नहीं करता। जन्य वस्तु का नाश भी ध्रुवभावी है, फलतः वह भी नश्यमान वस्तु के बाद में होने वाले कारण की अपेक्षा नहीं करेगा।

बौद्धों के इस न्याय-प्रयोग का खण्डन नैयायिक इस प्रकार करते हैं।

ध्रुवभाविता-रूप हेतु का निर्वचन अशक्य है, अतः उससे नाश की कारण-निरपेक्षता का साधन नहीं हो सकता।

जैसे जन्यभाव का नाश ध्रुवभावी है इसका क्या अर्थ है ?

(१) नाश नश्यमान पदार्थ से अभिन्न है ?

(२) नाश अलीक है ?

(३) नाश नश्यमान पदार्थ का कार्य है ?

(४) नाश नश्यमान पदार्थ का व्यापक है ?

(५) अथवा नाश नश्यमान पदार्थ का अभाव है ?

इनमें यदि पहला (१) पक्ष माना जायगा तो नाश में नश्यमान पदार्थ के बाद होने वाले कारण की निरपेक्षता सिद्ध हो सकेगी क्योंकि नश्यमान पदार्थ में जब उसके बाद होने वाले कारण की अपेक्षा नहीं है तो उससे अभिन्न जो नाश है उसमें उस प्रकार के कारण की अपेक्षा कैसे होगी ?

परन्तु यह पक्ष मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि नाश निषेध—अभाव रूप है, यदि अभाव और प्रतियोगी में अभेद मान लिया जायगा तो अभाव और प्रतियोगी में परस्पर विरोध नहीं होगा, फलतः किसी वस्तु के विरुद्ध धर्म का

संसर्ग न सिद्ध हो सकने के कारण किसी का किसी में भेद नहीं सिद्ध हो सकेगा अतः संसार भर में अभेद-अद्वैत या ऐक्य का प्रसङ्ग हो जायगा।

(२) नाश अलीक है, यह मानने का तात्पर्य यह है कि जैसे खरहे की सींग आदि अलीक पदार्थ अहेतुक हैं वैसे ही नाश भी अलीक होने पर अहेतुक होगा, अहेतुक होने से किसी कारण की अपेक्षा न होने के कारण जन्य भावों का नाश उनकी उत्पत्ति के दूसरे क्षण में ही हो जायगा, इस प्रकार वस्तुमात्र की क्षणिकता सिद्ध होगी।

यह दूसरा पक्ष भी ग्राह्य नहीं है क्योंकि अलीक का जन्म नहीं हो सकता, जन्म उसी का होता है जिसमें नियत देश और काल का सम्बन्ध सम्भव होता है, क्योंकि देश-काल से असम्बद्धता का नाम ही अलीकता है, अतः नाश की अलीकता-पक्ष में उसका जन्म न हो सकने के कारण भावकार्य की नित्यता प्रसक्त हो जायगी।

(३) नाश नश्यमान भाव का कार्य है—नाश की ध्रुवभाविता का यह तीसरा अर्थ मानने का अभिप्राय यही है कि नाश में नश्यमान वस्तु से अतिरिक्त कोई कारण नहीं है, अतः उसमें भावोत्पत्ति के बाद होने वाले किसी कारण की अपेक्षा नहीं है, इसलिये वस्तु का जन्म होते ही नाश के कारण का सन्निधान पूर्ण हो जाने से जन्म के दूसरे क्षण में ही वस्तु का नाश हो जाता है, इस प्रकार भाव वस्तु की क्षणिकता सिद्ध होती है।

किन्तु यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि नाश में नश्यमान वस्तु से अतिरिक्त कोई कारण नहीं है यह बात असिद्ध है, इसलिये इस हेतु से यह अनुमान नहीं हो सकता कि नाश में भावोत्पत्ति के बाद होनेवाले किसी कारण की अपेक्षा नहीं है अथवा भाव का नाश भावोत्पत्ति के दूसरे क्षण में ही हो जाता है।

(४) नाश नश्यमान भाव का व्यापक है—नाश की ध्रुवभाविता का यह चौथा पक्ष मानने का तात्पर्य यह है कि नाश जब भाव का व्यापक होगा तो उसे भावोत्पत्ति के बाद होने वाले कारण में निरपेक्ष ही मानना होगा, क्योंकि नाश में भावोत्पत्ति के बाद होनेवाले कारण की अपेक्षा मानने पर जिस भाव के बाद उसके नाश के कारण का जन्म या सन्निधान न होगा वह भाव नष्ट न हो सकेगा, फलतः उसका नाश उस भाव का व्यापक नहीं होगा।

परन्तु यह चौथा पक्ष भी मानने योग्य नहीं है क्योंकि बौद्धमत में जिन वस्तुओं में तादात्म्य होता है उनमें एक दूसरे का व्याप्य और व्यापक होता है और जिनमें कार्यकारणभाव होता है उनमें कार्य व्याप्य और कारण व्यापक

होता है, नाश में न भाव का तादात्म्य है और न उसकी कारणता ही है अतः वह भाव का व्यापक नहीं माना जा सकता।

न्यायमत में भी नाश की भाव-व्यापकता नहीं बन सकती क्योंकि उस मत में नियत सहभाव ही व्याप्यव्यापकभाव का व्यवस्थापक है और वह भाव और नाश में है नहीं, क्योंकि उन दोनों में कालिक विरोध होने के नाते सहभाव नहीं हो सकता।

(५) भाव का नाश अभाव-रूप है—भाव-नाश की ध्रुवभाविता का यह पांचवा अर्थ मानने का भाव यह है कि जो अभाव रूप होता है वह अजन्मा होता है जैसे प्रागभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। और जो अजन्मा होता है वह कारणनिरपेक्ष होता है, और जो कारणनिरपेक्ष होता है उसके अस्तित्वलाभ में कोई विलम्ब नहीं होता, ऐसी स्थिति में भाव का नाश जब अभावरूप माना जायगा तो अजन्मा होगा, अजन्मा होने से कारण-निरपेक्ष होगा, कारण-निरपेक्ष होने से अस्तित्वलाभ से एक क्षण भी वञ्चित नहीं रह सकेगा, फलतः भावमात्र जन्म पाते ही अभाव-ग्रस्त हो उठेगा, अतः कोई भी भाव स्थायी न हो सकेगा।

परन्तु यह पक्ष भी विचार-संगत नहीं है क्योंकि नाश को अजन्मा मानने पर यह प्रश्न उठता है कि नाश का उसके प्रतियोगी भाव के साथ विरोध है या नहीं ? यदि नहीं तो भाव के अनेक क्षणों में रहने का कोई व्याघातक न होने से अनेक क्षण तक उसकी स्थिति का प्रसङ्ग होगा, और यदि विरोध है तो प्रश्न उठता है कि भाव का नाश भाव-जन्म के पहले है या नहीं ? यदि नहीं, तो जो पहले से नहीं है और अजन्मा है उसका बाद में अस्तित्व न होगा। परिणामतः भावमात्र अविनाशी हो जायगा। और यदि भावनाश भावोदय के पहले से रहता है यह माना जायगा तो प्रश्न यह उठेगा कि भाव-नाश भाव-जन्म का विरोधी है या नहीं ? यदि नहीं तो नष्ट का भी जन्म होना चाहिये, और यदि विरोधी है तो पहले भी भाव का जन्म न होना चाहिये, क्यों कि भाव-जन्म का विरोधी भावनाश पहले से ही विद्यमान है।

इतने विचार का निष्कर्ष यही है कि नाश को अजन्मा या अहेतुक मान कर भाव-जन्म के दूसरे क्षण में भाव-नाश के अतित्व-लाभ का समर्थन नहीं किया जा सकता।

जिस भाव से उसके दूसरे क्षण में जो कार्य उत्पन्न होता है वही उस भाव का नाश है, प्रत्येक भाव से उसके दूसरे क्षण में कोई न कोई कार्य उत्पन्न होता

ही है, अतः भाव-मात्र के दूसरे क्षण में उसका नाश उत्पन्न होने से भाव-मात्र की क्षणिकता सिद्ध होती है ।

क्षणिकता के साधन की यह युक्ति भी अच्छी नहीं है, क्योंकि इस प्रतिपादन में भी यह प्रश्न उठता है कि भाव का कार्य भाव के अस्तित्व का विरोधी है या नहीं ? यदि नहीं, तो भाव-कार्य-रूप भावनाश के साथ भी भाव के रहने में कोई बाधा न रहने से भाव की स्थिरता का दुर्वार प्रसङ्ग होगा, और यदि भाव-कार्य को भावास्तित्व का विरोधी माना जायगा तो तीसरे क्षण में होने वाले द्वितीय-क्षणस्थ-भाव के कार्य से प्रथम-क्षणस्थ भाव के विनाश-रूप द्वितीय-क्षणस्थ-भाव का नाश हो जाने से तीसरे क्षण मे प्रथम-क्षणस्थ-भाव का पुनर्जन्म या पुनर्भाव हो जायगा ।

यदि इस पर यह कहा जाय कि भावनाश की निवृत्ति हो जाने से भाव के अस्तित्व की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भाव के अस्तित्व का सम्पादक भाव का कारण होता है न कि भावनाश की निवृत्ति, अन्यथा पहले भाव का अस्तित्व कैसे होता ? अतः भावनाश की निवृत्ति होने पर भी भाव का कारण न रहने से तीसरे क्षण में प्रथम-क्षणस्थ भाव का पुनः अस्तित्व नहीं हो सकता ।

यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि भाव और उसके नाश में विरोध है अतः एक की निवृत्ति होने पर दूसरे का अस्तित्व आवश्यक है । जब जिस भाव का नाश नहीं रहता तब वह भाव या उसकी पूर्वावस्था अर्थात् उसका प्रागभाव रहता है । नष्ट भाव का बाद में न अस्तित्व ही माना जा सकता और न प्रागभाव ही, क्योंकि अस्तित्व मानने पर प्रत्यक्ष का और प्रागभाव मानने पर पुनर्जन्म का प्रसङ्ग होता है ।

द्रव्यार्थतो घटपटादिषु सर्वसिद्धमध्य-
क्षमेव हि तव स्थिरसिद्धिमूलम् ।
तच्च प्रमाणविधया तदिदन्त्वभेदा-
भेदावगाहि नयतस्तभेदशालि ॥ २२ ॥

हे भगवन् ! तुम्हारे मत में "सोऽयम्"-वह यह हैं, अर्थात् उस स्थान और उस समय की वस्तु तथा इस स्थान और इस समय की वस्तु अभिन्न है–एक है, यह सार्वजनीन प्रत्यक्ष ही घट, पट आदि पदार्थों के द्रव्यांश की स्थिरता के साधन का मूल है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि घट, पट आदि पदार्थ प्रतिक्षण में उत्पन्न-विनष्ट होने वाले अपने अनन्त धर्मों के रूप में बदलते हुये प्रतीत होने से अस्थायी माने जा सकते हैं । तथापि किसी एक रूप से उनकी स्थायिता भी मानना अनिवार्य रूप से आवश्यक है । ऐसा मानने पर

भिन्न स्थान और भिन्न समय में रहने वाली वस्तु में जो अभिन्नता या एकता की ऊर्ध्वकथित प्रतीति होती है उसकी उपपत्ति न हो सकेगी। इस प्रकार घट, पट आदि पदार्थों का जो अंश स्थिर सिद्ध होता है उसका नाम द्रव्य है।

वह प्रत्यक्ष प्रमाण-रूपसे तत्ता-तद्देश एवं तत्काल के साथ सम्बन्ध तथा इदन्ता-एतद्देश एवं एतत्काल के साथ सम्बन्ध-इन दो रूपों से भेद और उन विभिन्न देश-कालों में सूत्र के समान अनुस्यूत द्रव्य के रूप से अभेद का प्रकाशन करता है। और वही प्रत्यक्ष नय-रूप से अभेद-मात्र का प्रकाशन करता है।

अभिप्राय यह है कि एक वस्तु के अनेक अंश होते हैं। उनमें से कुछ परस्पर-विरुद्ध से लगते हैं और कुछ अविरुद्ध से। वे अंश अथवा धर्म अपने आश्रय से एकान्त भिन्न नहीं होते अपि तु अभिन्न भी होते हैं, वे प्रतिक्षण उत्पाद-विनाशशील होते हैं परन्तु उनका आश्रय-भूत वस्तु, जिसे द्रव्य कहा जाता है, स्थिर और अभिन्न होती है।

वस्तु के किसी अंश-रूप विशेष का ही ग्रहण जिस से होता है उसे नय अर्थात् प्रमाण का एक देश कहा जाता है, तथा वस्तु के समस्त रूपों का प्रकाशन करने वाले नयसमूह को पूर्ण प्रमाण कहा जाता है। जैन दर्शन वस्तु-स्वरूप का निरूपण प्रमाण के आधार पर करता है। और दूसरे दर्शन नयको ही पूर्ण प्रमाण मान कर उसी के आधार पर वस्तु के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

इस श्लोक के उत्तरार्ध में यही बात कही गयी है कि "सोऽयम्" यह प्रत्यभिज्ञा-रूप प्रत्यक्ष प्रमाण-रूप से अर्थात् अनेक नयों के सहयोग से द्रव्यात्मना वस्तु की एकता और विभिन्नधर्मात्मना उसकी अनेकता का प्रकाशन करता है। किन्तु एक नयमात्र के रूप से वस्तु की केवल एकता का प्रकाशन करता है।

सोऽयम्—इस प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष के बल से देश-काल का भेद होते हुये भी वस्तु की अभिन्नता का वर्णन करने वाले नैयायिकों का कहना यह है कि—उक्त प्रतीति पूर्वकाल में स्थित वस्तु के साथ वर्तमान काल में स्थित वस्तु के अभेद का प्रकाशन करती है, यदि वस्तु की स्थायिता न मानी जायगी किन्तु उसे प्रतिक्षण में नश्वर माना जायगा तो क्रमिक दो क्षणों में रहने वाली वस्तुओं का भी अभेद न होगा और लम्बे व्यवधान वाले दो समय की वस्तुवों के अभेद की तो स्वाप्निक कल्पना भी नहीं हो सकती। अतः कथित प्रतीति की सर्वसम्मत प्रामाणिकता के रक्षणार्थ वस्तु को स्थिर मानना आवश्यक है।

इस पर क्षण-भेद से वस्तु-भेद-वादी बौद्ध की ओर से यह शङ्का की जाती है कि उक्त प्रकार की प्रतीति की प्रामाणिकता नियत नहीं है क्योंकि दीप-शिखा जो प्रतिक्षण में बदलती रहती है उसकी भी वैसी ही प्रतीति होती है। प्रायः लोग ऐसा कहते पाये जाते हैं कि सूर्यास्त के समय जो दीप-शिखा प्रज्वलित हुई थी वह ज्यों कि त्यों मध्यरात्रि तक जलती रही, इस प्रकार सूर्यास्त समय की और मध्यरात्रि की दीपशिखावों में "सैव इयं दीपशिखा"—वही यह दीप-शिखा है, ऐसी प्रतीति का होना सबको मान्य है, पर यह प्रतीति कदापि यथार्थ नहीं मानी जा सकती, क्योंकि सायंकाल और मध्यरात्रि की दीपशिखाओं में भेद है। यदि यह कहें कि उनमें भी भेद नहीं है तो यह प्रश्न उठता है कि जितना तेल और जितनी बत्ती मध्यरात्रि की दीप-शिखा से जलती है उतना तेल और उतनी बत्ती सायंकाल में दीप-शिखा के प्रज्वलित होते ही जल जानी चाहिये, क्योंकि सायंकाल और मध्यरात्रि की दीप-शिखाओं में ऐक्य है, पर ऐसा नहीं होता, अतः उनमें भेद मानना आवश्यक है।

इस शङ्का के उत्तर में नैयायिकों का कथन यह है कि उक्त प्रकार की सब प्रत्यभिज्ञायें प्रामाणिक नहीं हैं, किन्तु जिन वस्तुओं में विरुद्ध धर्मों का सम्बन्ध नहीं है उनके ऐक्य को जो प्रत्यभिज्ञायें ग्रहण करती हैं वे ही प्रामाणिक हैं, विभिन्नकाल की दीपशिखाओं में तेल और बत्ती के विभिन्न भागों की नाशकता है, अर्थात् पहले क्षण की दीपशिखा तेल और बत्ती के जिस भाग का नाश करती है दूसरे क्षण की दीपशिखा उसे नहीं नष्ट करती किन्तु अन्य भाग को नष्ट करती है, इसी से कुछ समय बाद तेल और बत्ती के पूरा जल जाने पर दाह्य आश्रय का नाश हो जाने से दाहक दीप-शिखा का निर्वाण हो जाता है, इस प्रकार बिभिन्नकालिक दीपशिखाओं में उन्हें भिन्न करने वाले परस्पर विरुद्ध धर्म हैं अतः उनके ऐक्य में "सैव इयं दीपशिखा" यह प्रत्यभिज्ञा-प्रमाण नहीं हो सकती, वह तो विभिन्नकालिक दीप-शिखाओं के सादृश्यमूलक गौण एकत्व का ही प्रकाशन करती है।

परन्तु घट, पट आदि वस्तुओं में ऐसे विरुद्ध धर्मों का सम्बन्ध नहीं है। जो घट पहले क्षण में है उसका दूसरे क्षण में अवस्थान मानने में कोई बाधा नहीं है। अतः "सोऽयम्" इस प्रत्यभिज्ञा को विभिन्नकालिक घटादि के ऐक्य में प्रामाणिक मानने में कोई रोक नहीं है।

विभिन्न कालिक वस्तुओं के ऐक्य की सिद्धि के लिये प्रत्यभिज्ञा का प्रत्यक्ष और अनुमान के रूप में उपयोग होता है। जिसको प्रत्यभिज्ञा होती है उसके लिये तो प्रत्यक्ष के रूप में उसका उपयोग होता है और जिसे वह नहीं होती उसके लिये अनुमान के रूप में उसका उपयोग होता है।

अनुमान-रूप से उसका उपयोग इस प्रकार होता है—

इस काल की वस्तु पूर्वकाल की वस्तु से अभिन्न है क्योंकि इस काल की वस्तु पूर्वकाल की वस्तु का विरुद्धधर्मा नहीं है और उससे अभिन्न-रूप से प्रत्यभिज्ञा-द्वारा गृहीत होती है।

अथवा—

प्रत्यभिज्ञा-द्वारा अभिन्नरूप से गृहीत होने वाली विभिन्नकालिक वस्तुयें अपने सम्बन्धी काल का भेद होते हुये भी एक दूसरे से अभिन्न हैं, क्योंकि उनमें परस्पर-विरुद्ध धर्मों का सम्बन्ध नहीं है, जिन वस्तुओं में परस्पर विरुद्ध धर्मों का सम्बन्ध नहीं होता वे अपने सम्बन्धी के भेद होने पर भी एक दूसरे से अभिन्न होतो हैं, जैसे विभिन्न परमाणुओं से संयुक्त एक परमाणु।

प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त अनुगत प्रतीति और अनुगत व्यवहार भी स्थिर भाव की सिद्धि में प्रमाण हैं, अर्थात् जैसे विभिन्न कालों में एक स्थायी भाव न मानने पर विभिन्नकालिक भावों में एकता को ग्रहण करनेवाली प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति नहीं होती वैसे विभिन्नकालिक जल आदि पदार्थों में जलत्व आदि भावात्मक स्थायी धर्म न मानने पर विभिन्नकालिक जलों में जल की अनुगत प्रतीति और अनुगत व्यवहार की भी उपपत्ति नहीं हो सकती, और इस प्रकार जब जलत्व आदि स्थायी भावात्मक धर्म मानने पड़ जाते हैं तब भावमात्र को क्षणिक मानने का आग्रह बौद्धों को छोड़ना ही पड़ेगा।

इस पर बौद्धों का उत्तर यह है कि जल आदि पदार्थों की अनुगत प्रतीति और अनुगत ब्यवहार के लिये जलत्व आदि भावात्मक स्थायी धर्म मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अजलव्यावृत्ति-रूप अभावात्मक जलत्व से ही जल की उक्त प्रतीति तथा उक्त व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है।

उनका कहना यह है कि यद्यपि—

जल की प्रतीति में भावभूत जलत्व का भान नहीं होता यह कथन सहसा उचित नहीं हो सकता क्योंकि जल की प्रतीति में लोक को भावात्मक जलत्व के भान का अनुभव होता है, तथापि यह मानना भी आवश्यक है कि जल की प्रतीति में जल में अजलव्यावृत्ति-जल से भिन्न वस्तुओं के भेद, का भी भान होता है, यदि ऐसा न माना जायगा तो जल की प्रतीति में जलत्व जल का विशेषण न होगा, क्योंकि विशेषण वही होता है जो विशेष्य में इतरभेद का बोध कराता है। अतः जल की प्रतीति में यदि जलत्व जल में जलेतरभेद का बोधक न होगा तो वह जल का विशेषण न हो सकेगा। और यदि जलत्व

को जल में जलेतरभेद के वैशिष्ट्य का बोधक माना गया तो उसे जलेतरभेद-रूप मानना ही होगा, अन्यथा वह जलेतरभेद के वैशिष्ट्य का बोधक न होगा, क्योंकि एक धर्म के वैशिष्ट्य का बोध दूसरे धर्म से नहीं होता, यह नियम है, और इस नियम को मानना अति आवश्यक है क्योंकि यह नियम यदि न माना जायगा तो रूप से रसविशिष्टता का तथा घटत्वादि धर्मों से पटत्वादि-विशिष्टता की प्रतीति का प्रसङ्ग होगा।

इस प्रकार जलत्वादि धर्मों के अजलादिव्यावृत्ति-रूप होने के कारण यह मत उचित ही है कि जलत्वादि सामान्य धर्मों का व्यक्ति के समान विधिरूप-भावरूप से अस्तित्व नहीं है।

यद्यपि जलत्वादि धर्मों की अजलादिव्यावृत्ति-रूपता न्यायादि मतों में भी है तथापि न्यायादि मतों में उनकी भावरूपता भी मानी जाती है अर्थात् अजलादिव्यावृत्ति की जलत्वादि से भिन्न सत्ता नहीं मानी जाती। तात्पर्य यह है कि न्यायादि मतों में जलत्वादि की भावरूपता की ही प्रधानता है अभावरूपता की नहीं, अर्थात् भाव से अभाव की गतार्थता है, अभाव से भाव की नहीं। किन्तु बौद्धमत में अजलादिव्यावृत्ति से भावात्मक जलत्वादि की गतार्थता बतायी जाती है, अर्थात् अजलादिव्यावृत्ति से ही भावात्मक जलत्वादि के प्रयोजनों का सम्पादन हो जाता है। इसलिये भावात्मक जलत्वादि के अस्तित्व का स्वीकार अनावश्यक और अप्रामाणिक है।

इस ऊर्ध्वकथित रीति से भी जल की प्रतीति में अजलव्यावृत्ति के भान का एवं जलत्वादि में अजलादिव्यावृत्तिरूपता का समर्थन नहीं हो सकता, क्योंकि जलत्व को यदि अजलव्यावृत्ति से भिन्न न माना जायगा और अजलव्यावृत्ति की प्रतीति के पूर्व जलत्व रूप से जल की प्रतीति न मानी जायगी तो अजलव्यावृत्ति का ज्ञान ही न हो सकेगा।

कहने का भाव यह है कि अजलव्यावृत्ति जलेतरभेद-रूप है। इसलिये जब तक उसके प्रतियोगी जलेतर का जलेतरत्व-रूप से ज्ञान नहीं होगा तब तक उसका ज्ञान नहीं हो सकता, और जब तक जलेतरत्व के प्रतियोगी जल का जलत्व रूप से ज्ञान नहीं होगा तब तक जलेतरत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक अर्थात् प्रतियोगी में विशेषणीभूत धर्म-रूप से प्रतियोगी का ज्ञान प्रतियोगी से विशेषित अभाव के ज्ञान का कारण होता है।

इस प्रकार अजलव्यावृत्ति के ज्ञान में जलत्व के ज्ञान की अपेक्षा होने से जलत्व को उससे भिन्न और उससे पूर्व ज्ञायमान मानना होगा। अन्यथा यदि जलत्व अजलव्यावृत्ति-रूप ही होगा तो अजलव्यावृत्ति के ज्ञान में अजलव्यावृत्ति

के ही ज्ञान की अपेक्षा हो जाने से आत्माश्रव दोष हो जायगा। एवं जलत्व को अजलव्यावृत्ति से भिन्न मानने पर भी यदि उसको पूर्व में ज्ञायमान न माना जायगा तो अजलव्यावृत्ति दुर्ज्ञेय हो जायगी।

जलत्व अजलव्यावृत्ति के वैशिष्ट्य का बोधक है अतः उसे अजलव्यावृत्तिरूप मानना आवश्यक हैं, क्योंकि एक धर्म से अन्य धर्म के अन्यवैशिष्ट्य का बोध नहीं होता, यह जो बात कही गयी हैं, वह यहाँ तब लागू हो सकती है जब जलत्व को विषयविधया अजलव्यावृत्ति के वैशिष्ट्य का बोधक माना जाय, पर ऐसा नहीं माना जाता। किन्तु जैसे गन्ध को हेतुविधया पृथिवीतरभेद के वैशिष्ट्य का बोधक माना जाता है और वह पृथिवीतरभेदरूप नहीं माना जाता है, वैसे ही जलत्व भी हेतुविधया अजलव्यावृत्ति के वैशिष्ट्य का बोधक माना जाता है अतः उसे अजलव्यावृत्तिरूपता नहीं हो सकती। एक धर्म अन्यवैशिष्ट्य का बोधक नहीं होता। इस नियम का अर्थ यही है कि एक धर्म विषयविधया अन्यवैशिष्ट्य का बोधक नहीं होता।

और यह जो बात कही गई थी कि यदि जलप्रतीति में जल में अजल-व्यावृत्ति का भान न होगा तो जलत्व को जल की विशेषणता न होगी, वह ठीक नहीं है, क्योंकि विशेषणा की उपपत्ति के लिये विशेषण को इतरभेद की प्रत्यायकता आवश्यक है न कि विशेषणयुक्त विशेष्य की प्रतीति में इतरभेद का भान। अतः पहले जलत्वरूप विशेषण से विशिष्ट जल की प्रतीति हो जाने पर बाद में जलत्वात्मक विशेषणता को हेतु करके जल में जलेतरभेद का अनुमान कर जलत्व की जलविशेषणता का उपपादन करना चाहिये।

इस पर बाह्यार्थवादी अर्थात् ज्ञान से भिन्न वस्तु की सत्ता मानने वाले बौद्ध यह कह सकते हैं कि व्यक्ति की सत्ता तो प्रामाणिक है पर प्रवृत्त्युपयोगी जलत्व आदि सामान्य धर्मो की सत्ता प्रामाणिक नहीं है। वे धर्म अलीक होते हुये भी विशिष्ट प्रतीतियों के द्वारा प्रवृत्ति आदि कार्यों का सम्पादन करते हैं। अतः जलत्वादि स्थिर धर्मों का अस्तित्व न होने से उनमे सत्ता हेतु क्षणिकता का व्यभिचारी नहीं हो सकता। परन्तु जलत्वादि की अलीकता का कोई साधक न होने से यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि जिन अनुभवों से जलत्वादि धर्म गृहीत होते हैं वे उन धर्मों की अलीकता का उल्लेख नहीं करते, अतः उनके बल से उन धर्मों की अलीकता नहीं मानी जा सकती। दूसरे ज्ञान भी उन धर्मों की अलीकता का साधन नहीं कर सकते, क्योंकि जब एक अनुभव में भावरूप से उन धर्मां का स्फुरण होता है तो दूसरा अनुभव अकारण ही उन धर्मों की अलीकता का बोधन कैसे कर सकता है?

धर्मकीर्ति और दिङ्नाग आदि का मत :—

जलत्वादि अलीक हैं, इस कथन का तात्पर्य यह है कि जलत्वादि स्थायी भावभूत बस्तु नहीं है, किन्तु अजलादि-निवृत्तिरूप हैं। और निवृत्ति-अभाव की अलीकता-स्थायिभाव-भिन्नता सर्वसम्मत है, इसीलिये कहा जाता है कि जलत्वादि धर्म अलीक हैं, और इस प्रकार की अलीकता जलत्वादि की अजलादि-निवृत्तिरूपता उन्हीं अनुभवों से गृहीत होती है जो जलत्वादि धर्मों के ग्राहक माने जाते हैं।

यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि अनुभवों में जलत्वादि धर्मों का भाव रूप ही से स्फुरण होता है निवृत्तिरूप से नहीं। जल को देख कर किसी को कदापि यह अनुभूति नहीं होती कि मैं अजलनिवृत्ति देख रहा हूँ। प्रत्युत यही अनुभूति होती है कि मैं जल देख रहा हूँ।

इस पर यदि यह कहा जाय कि जलादि के अनुभवों में अजलादिव्यावृत्ति से विशिष्ट जलादि का ही स्फुरण होता है, अतः अजलव्यावृत्तिरूप से जल की अनुभूयमानता की प्रतीति न होने पर भी यह अनुमान किया जासकता है कि जल की प्रतीति अजलनिवृत्ति को ग्रहण करती है क्योंकि वह अजलनिवृत्ति से बिशिष्ट जल को ग्रहण करती है, जो प्रतीति विशेषण और विशेष्य दोनों को नहीं ग्रहण करती वह विशिष्ट को नहीं ग्रहण कर सकती क्योंकि विशेषण और विशेष्य से पृथक् विशिष्ट का अस्तित्व नहीं होता।

परन्तु यह भी कथन ठीक नहीं है क्योंकि जलादि के अनुभवों में वस्तुगत्या अजलादि से व्यावृत्त जो जलादि का स्वरूप है उसी का भान होता है न कि अजलादिव्यावृत्तिविशिष्टात्मना जलादि का भान होता है। अतः जलादि की प्रतीति में अजलादिव्यावृत्ति के स्फुरण का अनुमान नहीं हों सकता। क्योंकि जो प्रतीति यद्विशिष्टात्मना विशेष्यको विषय करती है उसी प्रतीति में उस विशेषण के भान का नियम है, इसीलिये दण्डविशिष्टात्मना पुरुष को बिषय करने वाली "यह पुरुष दण्ड वाला है" यह प्रतीति ही दण्ड को विषय करती है, और जो प्रतीति दण्ड वाले पुरुष को दण्डविशिष्टात्मना नहीं विषय करती किन्तु दण्डी पुरुषके निजी रूप मात्र से विषय करती है। जैसे "यह (दण्डी) पुरुष है" वह दण्ड को विषय नहीं करती। इसलिये यह स्पष्ट है कि जल आदि की प्रतीति वस्तुतः अजलादिव्यावृत्त जलादि को ही विषय करती है किन्तु अजलादिव्यावृत्तिरूप से नहीं। अतः उस प्रतीति में अजलादि-व्यावृत्ति के भान का अनुमान नहीं किया जा सकता, फिर किस प्रतीति के बल से जलत्वादिधर्मों की अजलादिव्यावृत्तिरूपता का समर्थन किया जा सकता है?

यदि इस पर यह कहा जाय कि जल-प्रतीति में जल का अजलव्यावृत्ति रूप से स्फुरण मानना आवश्यक है, अन्यथा "जल लावो" इस आज्ञावाक्य से जल के समान अन्य वस्तु के आनयन में भी प्रवृत्ति की आपत्ति होगी क्योंकि श्रोता को "जल लावो" इस वाक्य से यह प्रतीति नहीं हुई कि उसे वही वस्तु लानी चाहिये जो अजल से व्याबृत्त है।

परन्तु यह बात भी ठीक नहीं है यतः "जल लावो" इस वाक्य से जल लाने का आदेश अवगत होता है न कि अजल लाने का क्योंकि जलशब्द का अर्थ जल है न कि अजल, फिर उस वाक्य से श्रोता की जल-भिन्न वस्तु के आनयन में प्रबृत्ति कैसे हो सकती है? जल लाने में प्रवृत्ति होने के लिये जल लाने के आदेश का ज्ञान क्षपेक्षित है न कि जो अजल-भिन्न है उसे लाने के आदेश का ज्ञान, क्योंकि अजलभिन्न जल ही होता है फिर सीधे तौर पर जल लाने के आदेश का ज्ञान मानने से भी जब काम चल जाता है तो टेढ़े ढंग से उसके लाने के आदेश के ज्ञान की कल्पना क्यों की जाय?

जो भाव और अभाव इन दोनों में साधारण होता है वह अन्यव्यावृत्ति-रूप होता है, जैसे अमूर्तत्व भावाभावसाधारण है अर्थात् आकाश आदि द्रव्यों में तथा गुणादि पदार्थों में अमूर्तत्व का भाव है और पृथिवी आदि द्रव्यों में उसका अभाव है अतः वह अन्यव्यावृत्ति अर्थात् मूर्त-भेद रूप है। जलत्वादि धर्म भी भावाभावसाधारण हैं अर्थात् कहीं इनका भाव है और कहीं अभाव। उदाहरण और उपनय से घटित इस उभयावयवक न्याय से जलत्वादि धर्मों में अजलादिव्यावृत्तिरूपता की आनुमानिक सिद्धि होगी।

अथवा–जो अत्यन्त विलक्षण वस्तुवों में सालक्षण्य-सादृश्य के व्यवहार का सम्पादक होता है वह अन्यव्यावृत्ति-रूप होता है, जैसे अमूर्तत्व परस्पर में अत्यन्त विलक्षण आकाश, काल आदि द्रव्य एवं गुणादि पदार्थों में "यह सब पदार्थ अमूर्त हैं" ऐसे सादृश्यव्यवहार का सम्पादक होने से अन्यव्यावृत्ति-मूर्त-भेदरूप है। जलत्वादि धर्म भी परस्पर में अत्यन्त विलक्षण अनेक जलादि व्यक्तियों में "यह सब जल हैं" ऐसे सादृश्यव्यवहार का सम्पादक है। इस द्व्यवयव न्याय से भी जलत्वादि धर्मों में अन्यव्यावृत्तिरूपता की आनुमानिक सिद्धि होगी।

बौद्धों का यह प्रयास भी प्रशस्त नहीं है क्योंकि जैसे उष्णत्व का प्रत्यक्षानुभव अग्नि में अनुष्णता के अनुमान का बाधक हो जाता है, वैसे ही जलत्वादि धर्मों का विधिरूप से जो प्रत्यक्षानुभव सर्वसम्मत है वह उन धर्मों की अन्य-

व्यावृत्तिरूपता की आनुमानिक सिद्धि में बाधक हो जायगा, अतः उक्त न्यायों में उपात्त हेतु कालात्ययापदिष्ट-बाधितसाध्यक हो जांयगे ।

उक्त न्यायों में पहले न्याय में जिस भावाभावसाधारण्यरूप हेतु का उपन्यास किया गया है उसकी दुर्वचनीयता भी है, जैसे भावाभावसाधारण्य का क्या अर्थ है ?

(१) भाव और अभाव इस उभय का अभेद ?

(२) भाव और अभाव इन दोनों में रहना ?

(३) भाव और अभाव-इन दोनों की आश्रयता ?

(४) भाव और अभाव-इन दोनों की सादृश्यरूपता ?

(५) अथवा "अस्ति" और "नास्ति" इन दोनों शब्दों के साथ प्रयुज्यमानता ?

(१) इनमें पहला अर्थ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि भाव और अभाव में अत्यन्त भिन्नता होने के कारण उन दोनों का अभेद एकत्र असम्भव होने से हेतु की स्वरूपासिद्धि हो जायगी ।

दूसरा अर्थ भी नहीं ग्रहण किवा जा सकता, क्योंकि जलत्वादि धर्मों का अस्तित्व अभाव में नहीं माना जाता अतः जलत्वादि-धर्म-रूप पक्ष में हेतु का अभाव होने से हेतु की स्वरूपासिद्धि होगी ।

तीसरा अर्थ भी ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति में भाव और अभाव की आश्रयता है किन्तु उसमें अभावैकरूपता नहीं है, अतः व्यक्ति में हेतु साध्य का व्यभिचारी हो जायगा ।

चौथा अर्थ भी स्वीकार के योग्य नहीं है, क्योंकि जलत्वादि धर्म अभावनिष्ठ न होने के कारण भाव और अभाव के सादृश्य-रूप नहीं हो सकते, जो धर्म सादृश्य के प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों में रहता है, वही सादृश्य-रूप होता है, जैसे चन्द्र और मुख इस उभय में रहने वाला आह्लादकरत्व उन दोनों का सादृश्य कहलाता है, जलत्वादि धर्म जलादि-रूप भाव वस्तुओं में रहते हैं, पर अभाव में नहीं रहते, अतः उन में भावाभाव-सादृश्य-रूपता की असिद्धि हो जायगी ।

पाँचवा अर्थ भी उपादानार्ह नहीं है, क्योंकि "अस्ति" शब्द देश विशेष और कालविशेष के सम्बन्ध का बोधक होता है और "नास्ति" शब्द देशविशेष और कालविशेष के असम्बन्ध का बोधक होता है, इसलिये जिन वस्तुओं में किसी एक देश और किसी एक काल का सम्बन्ध है और किसी अन्य देश तथा किसी अन्य काल का असम्बन्ध भी है ऐसी सभी वस्तुओं का "अस्ति" तथा "नास्ति"

शब्द के साथ प्रयोग हो सकता है। व्यक्ति न अलीक है और न तो शाश्वत है अतः उसमें भी किसी देश-काल का सम्बन्ध और किसी देश-काल का असम्बन्ध होने से अस्ति-नास्ति शब्दों के साथ प्रयुज्यमानता है किन्तु उसमें अभावैकरूपता न होने से साध्य नहीं है, अतः उसमें हेतु साध्य का व्यभिचारी हो जायगा।

उक्त न्यायों से जलत्वादि धर्मों में अजलादिव्यावृत्ति-रूपता के साधन में कथित दोषों से अतिरिक्त दोष यह भी है कि यदि अन्यव्यावृत्तिरूप जलत्वादि को पक्ष करके अन्य-व्यावृत्तिरूपता का साधन किया जायगा तो सिद्धसाधन होगा, और यदि विधिरूप जलत्वादि को पक्ष करके अन्यव्यावृत्ति-रूपता का साधन किया जायगा, तो बौद्धमत में विधिरूप जलत्वादि की सत्ता न मानने के कारण आश्रयासिद्धि होगी। यदि न्यायमत से उसकी सिद्धता मान कर पक्ष का उपन्यास किया जायगा, तो बाध होगा, क्योंकि विधिस्वरूप वस्तु में व्यावृत्ति-मात्ररूपता नहीं हो सकती।

अनुगत—एकाकार व्यवहार के अनुरोध से भी भावमात्र की क्षणभङ्गुरता के आग्रह का त्याग करना आवश्यक है।

विभिन्न देश और विभिन्न काल के घटों में "यह घट है" इस अनुगत व्यवहार का होना सभी को मान्य है, यदि उनमें किसी एकरूप की स्थिति न मानी जायगी तो जैसे घट और पट में उक्त व्यवहार नहीं होता वैसे ही दो घटों में भी उक्त व्यवहार न होगा। अतः यह मानना अत्यावश्यक है कि भिन्न भिन्न स्थानों और समयों में जितने घट हैं उन सभी में घटत्वनामक एक धर्म है जिसके कारण उन सभी घटों में अन्य प्रकार का भेद होने पर भी "यह घट है" इस अनुगत व्यवहार की उत्पत्ति होती है और घट से भिन्न वस्तुओं में उस धर्म के न होने से उक्त व्यवहार नहीं होता।

इस प्रकार जब अनुगत व्यवहार की व्यवस्था करने वाले धर्म की विभिन्न कालों में एकता और स्थिरता मानी गयी तब उन्हीं धर्मों में क्षणिकता के साधनार्थ उपन्यस्त सत्ता आदि हेतुओं के क्षणिकता का व्यभिचारी हो जाने से विश्वमात्र की क्षणिकता का साधन कैसे हो सकता है?

प्यासे और भूखे मनुष्य की पानी पीने और भोजन करने में जो प्रवृत्ति होती है उसके अनुरोध से भी विश्व की क्षणिकता के अभिनिवेश का परित्याग करना आवश्यक है।

प्यासा मनुष्य नया पानी पीने में और भूखा मनुष्य नया भोजन ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, यह क्यों? इसीलिये न, कि, उसने समझ लिया है कि

पानी प्यास मिटाता है और अन्नादि भोजन-वस्तुयें भूख मिटाती हैं। इसलिये प्यास लगने पर वह पानी की ओर तथा भूख लगने पर भोज्य-वस्तु की ओर आकृष्ट होता है। परन्तु विश्व की क्षणिकता के पक्ष में सभी वस्तुयें आपस में अत्यन्त भिन्न हैं, विभिन्न देश-काल में स्थित जल और अन्नादि में एकान्त भेद है, एक भी स्थायी वस्तु न होने के कारण भिन्न भिन्न काल के जलादि वस्तुओं में समानता का प्रयोजक कोई धर्म नहीं है। तो प्यासे मनुष्य ने जिस पानी को पिया है या भूखे आदमी ने भोजन की जिस वस्तु को ग्रहण किया है, उस पानी और उस भोजनीय वस्तु से प्यास का बुझना और भूख का मिटना तो उसे ज्ञात है पर नये पानी और नई भोजनीय वस्तु की सामर्थ्य का तो उसे ज्ञान है नहीं अतः नये पानी और नये भोजन की ओर प्यासे या भूखे मनुष्य का झुकाव कैसे होगा? इसलिये यह मानना नितान्त आवश्यक है कि देश-काल के भेद से भिन्नता होने पर भी जलादि वस्तुयें जलत्वादि नामक एक स्थायी धर्म से युक्त हैं। जब उन धर्मों के एक आश्रय में प्यास आदि दूर करने की सामर्थ्य दृष्ट हो जाती है तब उन धर्मों के अन्य आश्रयों में भी उन्हीं धर्मों से प्यास आदि मिटाने की सामर्थ्य का अनुमान करके प्यासा या भूखा मनुष्य उन नयी वस्तुओं की ओर आकृष्ट होता है।

इस प्रकार अवश्य मन्तव्य इन धर्मों में सत्ता आदि हेतुओं के क्षणिकता का व्यभिचारी हो जाने से उन हेतुओं से विश्वमात्र की क्षणिकता का साधन नहीं किया जा सकता।

जलप्रतीति से प्रवृत्त हो जिसे पा और पीकर जिस मनुष्य ने एक बार अपनी पिपासा शान्त की है, दूसरी बार पुनः प्यास लगने पर वह मनुष्य वैसी ही वस्तु की खोज करता है, और फिर जहाँ उसे जलप्रतीति होती है वहाँ वैसी ही वस्तु पाकर अपनी कृतार्थता का सम्पादन करता है। इस व्यवहार की उत्पत्ति के लिये नैयायिक ने पूर्वपीत और पुनः पास्यमान द्रवद्रव्य 'जल' में एक अनुगत जलत्वनामक धर्म की कल्पना कर उस धर्म के आश्रयभूत वस्तुओं में पिपासा शान्त करने की सामर्थ्य स्वीकार की है, पर साकारज्ञानवादी इस कल्पना को आदर नहीं देते, उनका कहना यह है कि जितनी जल व्यक्तियाँ जगत् में हैं वे एक दूसरे से सर्वथा विलक्षण हैं, उनमें किसी धर्म के द्वारा समानता नहीं है, प्यासे पुरुषके कथित व्यवहार की उपपत्ति प्रकारान्तर से हो सकती है। जैसे जलाकार-प्रतीति से प्रवृत्त हो कर एक बार प्यास की शान्ति कर लेने पर पुनः जलाकार प्रतीति से प्यास शान्त करने की कामना वाले मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति जलव्यक्ति में न होकर जलप्रतीति में

स्फुरित होने वाले प्रतीति के जलाकार में ही होती है। क्यों कि प्रतीति सदा अपने प्रकाश्य विषय में ही प्रत्येता को प्रवृत्त करती है, और विशिष्ट प्रतीति जिसे साकार प्रतीति या विकल्प प्रत्यय कहा जाता है वह वास्तविक व्यक्ति को विषय नहीं करती। अतः प्रतीति अपने विषयभूत अपने आकार ही में प्रवृत्त करती है। प्रतीति के आकार में प्रवृत्त हुआ मनुष्य उस आकार का सम्पादन करने वाले बाह्य पदार्थ को उसी प्रकार प्राप्त करता है, जैसे मणि को न देखने पर भी मणि की प्रभा को देख कर उस प्रभा के अनुसन्धान में प्रवृत्त हुआ मनुष्य उसके केन्द्र भूत मणि को प्राप्त करता है। इस प्रकार जिस कार्य के सम्पादनार्थ जलत्व की कल्पना की जाती है उसका सम्पादन ज्ञान के आकार से हो जाने के कारण जलत्व को ज्ञानाकार से भिन्न मानने की आवश्यकता नहीं है। अतः साकारज्ञानवादी के वचन में यह कहा जा सकता है कि जलत्वादि धर्म जलाद्याकार ज्ञान के आकार रूप हैं, और ज्ञान के क्षणिक होने से उनका आकार भी क्षणिक है तथा ज्ञानाकार के क्षणिक होने से तद्रूप जलत्वादि भी क्षणिक हैं।

साकारज्ञानवादी का यह कथन आदर के योग्य नहीं है, क्यों कि प्रवृत्ति उसी वस्तु में होती है जिसमें इष्ट अर्थ की साधनता का ज्ञान होता है, प्यासे मनुष्य का इष्ट अर्थ है प्यास की शान्ति, उसकी साधनता का ज्ञान प्रतीति के आकार में नहीं होता किन्तु पानार्ह जल में होता है। अतः जल के ज्ञान से उसके जलाकार में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। ज्ञानाकारगोचर प्रवृत्ति से अर्थ की प्राप्ति की संगति बताने के लिये जो मणिप्रापक प्रवृत्ति का उदाहरण दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जहां मणि नहीं दीखती किन्तु उसकी प्रभा ही दीखती है, वहां भी प्रभा से मणि का अनुमान होकर मणि में ही प्रवृत्ति होती है न कि प्रभा में, अतः वहां मणिगोचर प्रवृ त्त ही मणि का प्रापक होती है न कि प्रभागोचर प्रवृत्ति मणि का प्रापक होती है।

ज्ञानाकार में प्रवृत्त मनुष्य वाह्य अर्थ को प्राप्त करता है यह कथन भी उचित नही है, क्यों कि ज्ञानसाकारतावाद और बाह्यार्थवाद दोनों की सह-मान्यता नहीं हो सकती। वाह्य अर्थों के अस्वीकार पक्ष में भी ज्ञानों में विलक्षणता के उपपादनार्थ ज्ञानाकार की कल्पना होती है किन्तु यदि वाह्य अर्थों का अस्तित्व माना जायगा तो उनका ज्ञान में स्फुरण अवश्य मानना होगा अन्यथा जिसका ज्ञान में स्फुरण न होगा उसकी सत्ता ही कैसे प्रमाणित होगी, क्यों कि ज्ञान ही वस्तु की सत्ताके व्यवस्थापक होते हैं और यदि बाह्य अर्थों का ज्ञान स्फुरण होगा तो बाह्य अर्थों की विलक्षणता से ही उनको ग्रहण करने

वाले ज्ञानों में विलक्षणता उपपन्न हो जायगी, फिर ज्ञानाकार की कल्पना का कोई आधार ही न रह जायगा। अतः यदि ज्ञान की साकारता है तो बाह्य अर्थों का अस्तित्व नहीं और यदि उसका अस्तित्व है तो ज्ञान की साकारता नहीं। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि ज्ञानाकारगोचर प्रवृत्ति से बाह्य अर्थ की प्राप्ति होती है। इस लिये यह मत ठीक नहीं है कि जलत्व भावभूत स्थायी धर्म नहीं है किन्तु क्षणिक ज्ञानाकाररूप है।

त्वच्छासने स्फुरति यत्स्वरसादलीका-
दाकारतश्च परतोऽनुगतं तु बाह्यम्।
आमम्बनं भवति सङ्कलनात्मकस्य
तत्तस्य न त्वतिविभिन्नपदार्थयोगात्॥ २३॥

अलीक और ज्ञानाकार से भिन्न घट, पट आदि जितनी भी बाह्य वस्तुयें हैं वे हे भगवन्? तुम्हारे शासन में अतिरिक्त अनुगमक—एकरूपता का सम्पादक, और व्यावर्तक—भेदक धर्म के विना ही अनुगत और व्यावृत्त हैं, उनकी अनुगतता—एकरूपता और व्यावृत्तता—भिन्नता स्वारसिक अर्थात् स्वाभाविक है।

एवं वे वस्तुयें जिस प्रत्यभिज्ञानामक ज्ञान में स्फुरित होती हैं वह भी न्यायशास्त्र के अनुसार केवल प्रत्यक्षरूप न होकर सङ्कलनरूप है, और उस ज्ञान में उन वस्तुओं का जो स्फुरण होता है वह भी इस लिये नहीं कि वे अपने से अत्यन्त भिन्न, स्थायी, और अनुगत घटत्व आदि धर्मों से युक्त हैं, बल्कि इस लिये कि वे स्वभावतः अनुगत अर्थात् एकरूप हैं।

तद्भिन्नतामनुभवस्मरणोद्भवत्वाद्
द्रव्यार्थिकाश्रयतयेन्द्रियजाद् बिभर्ति।
भेदे स्फुरत्यपि हि यद् घटयेदभिन्नं
भेदं निमित्तमधिकृत्य तदेव मानम्॥ २४॥

सोऽयम्–यह प्रत्यभिज्ञानामक ज्ञान अयम्–इस अंश के अनुभव और सः—इस अंश के स्मरण से उत्पन्न होने के कारण संस्कार-निरपेक्ष इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष से भिन्न है, उसमें तत्ता और इदन्ता-इन विभिन्न विशेषणों का स्फुरण होने से यद्यपि उन विशेषणों के आश्रयों में भी भेद का स्फुरण होता है तो भी निमित्तभेद से अर्थात् द्रव्यार्थिक दृष्टिकोण से उन विशेषणों के आश्रयभूत विशुद्ध द्रव्यांश के अभेद का भी उसी ज्ञान में स्फुरण होता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञानामक ज्ञान बिशेषणों की दृष्टि से भेद का और विशुद्ध विशेष्यों की दृष्टि के अभेद का प्रकाशन करता है।

दृष्टा सुधीभिरत एव घटेऽपि रक्ते
श्यामाभिदाश्रयधियो भजना प्रमात्वे।
सा निर्निमित्तकतयाऽध्यवसाय एव
न स्यात् तदाश्रयणतस्तु तथा यथार्था॥ २५॥

प्रत्यभिज्ञा में निमित्तभेद से भिन्न वस्तुवों के अभेद का भान होता है, इसी लिये रक्त घट में श्याम की अभिन्नता को अवभासित करने वाली प्रत्यभिज्ञा में विद्वान् पुरुषों ने अनियत प्रमाणता स्वीकार की है, क्योंकि निमित्तभेद का आधार छोड़ देने पर 'यह घड़ा रक्त श्याम है'' इस प्रकार की उक्त प्रत्यभिज्ञा को अध्यवसायरूपता से वञ्चित होना पड़ेगा और उस स्थिति में उसकी प्रमाण-कक्षा में गणना असम्भव हो जायगी, क्योंकि अपने स्वरूप और विषय को अवभासित करने वाले संशय, विपरीत निश्चय और अनध्यवसाय से भिन्न ज्ञान को ही आकर ग्रन्थों में प्रमाण श्रेणी में गिना गया है, और यदि निमित्तभेद का सहारा लेकर उक्त प्रत्यभिज्ञा उद्भूत होगी तो उसे निमित्तभेद के अनुसार ही प्रमाणरूपता भी अवश्य ही होगी, अर्थात् उक्त प्रत्यभिज्ञा यदि एक घट में कालभेद से रक्तता और श्यामता को विषय करेगी तो यह प्रमाणरूप से समादृत होगी और यदि एक ही काल में उपर्युक्त दोनों धर्मों का एक घट में ग्रहण करने का साहस करेगी तो अप्रमाण की पंक्ति में बिठा दी जायगी। उक्त प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता के अनैयत्य का यही रहस्य है।

स्वद्रव्यपर्ययगुणानुगता हि तत्ता
तद्व्यक्त्यभेदमपि तादृशमेव सूते।
संसर्गभावमधिगच्छति स स्वरूपात्
सा वा स्वतः स्फुरति तत्पुनरन्यदेतत्॥ २६॥

प्रत्यभिज्ञा में परिस्फुरित होने वाली तत्ता, आश्रयद्रव्य, उसके गुण और संस्थान तथा उसके गुणों के धर्मरूप पर्याय इन सभी का अनुगत धर्म है, जैसे श्याम घट की तत्ता घट, श्यामरूप, घट का आकार श्यामता आदि इन सभी वस्तुवों में आश्रित है। अतः वह प्रत्यभिज्ञा में अपने स्वरूपानुरूप ही अभेद को अवभासित कराती है। तात्पर्य यह है कि तत्ताश्रयरूप तद्व्यक्ति का अभेद तत्ता के आश्रय जितने हैं उन प्रत्येक के जितने भेद हैं उन सभी भेदों के समूह का अभावरूप है, ऐसा होने से श्याम घट की तत्ता रक्त घट में भी उपपन्न हो जाती है, क्योंकि यद्यपि रक्तता दशा में श्यामता आदि धर्म सन्निहित नहीं हैं तो भी आश्रयद्रव्य एक होने से विद्यमान है। अतः घट श्यामरूप और

श्यामत्व आदि के भेदसमूहों का अस्तित्व घट में हो सकने के कारण उनका अभाव घट में निर्बाध रूप से आश्रित है, क्योंकि समूहान्तर्गत कतिपय की विद्यमानता में भी तदन्तर्गत अन्य व्यक्ति का अभाव होने से समूह का अभाव सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार श्यामघट की तत्ता का रक्तघट में सम्बन्ध सम्भव होने के कारण तत्तारूप से उल्लिख्यमान श्यामघट के उक्त अभेद का रक्तघट में अवगाहन करने वाली प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता और तद्व्यक्ति की अभेदभासकता एवं सन्मुख वस्तु में तद्व्यक्तिरूपता के संशय की निवारकता का समर्थन हो जाता है।

तत्ताश्रयरूप तद्व्यक्ति के ऊर्ध्वोक्त अभेद का भान किस रूप से होता है, यह एक विचारान्तर है, वह स्वरूपत अर्थात् प्रतियोगी से अविशेषित होकर संसर्गरूप से भासमान हो सकता है, और यदि अभेद को तादात्म्य-रूप अतिरिक्त सम्बन्ध माना जाय तो उस रूप से भी उसका भान स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि अभेद को तद्व्यक्तिरूप माना जाय एवं तद्व्यक्ति को सामान्यविशेषात्मक अथवा धर्मिधर्मात्मक माना जाय तो उस रूप से भी उसका भान मानने में कोई बाधा नहीं है। तात्पर्य यह है कि तद्व्यक्ति के अभेद का जो कुछ भी स्वरूप विचारभेद से निर्धारित होगा उस स्वरूप में उसका भान स्वीकार्य हो सकता है। अतः उसका किस रूप से भान होता है इस विचारान्तर का प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता के परीक्षण में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। यहाँ तो इतना ही देखना है कि प्रत्यभिज्ञा को तद्व्यक्ति के अभेद की प्रकाशकता सम्भव है या नहीं? जिसका कुछ विवेचन इस पद्य के व्याख्यान में तथा विशेष विवेचन इससे पूर्व के पद्यों के व्याख्यान में आ गया है।

पर्यायतो युगपदप्युपलब्धभेदं किं न
क्रमेऽपि हि तथेति विचारशाली।
स्याद्वादमेव भवतः श्रयते स भेदाभेद-
क्रमेण किमु न स्फुटयुक्तियुक्तम् ॥ २७ ॥

हे भगवन्! इस प्रसङ्ग में जो व्यक्ति इस प्रकार विचार करने को प्रवृत्त होता है कि जब वही वस्तु सहभावी विभिन्न पर्यायों की दृष्टि से उसी से भिन्न होकर प्रतिष्ठित होती है तब वह क्रमभावी पर्यायों की विभिन्नता से भिन्न क्यों न होगी, क्या वह वस्तु में भेद और अभेद दोनों को प्रश्रय देकर आप के उस स्याद्वाद के आश्रय में नहीं आ जाता जिसे लौकिक और शास्त्रीय युक्तियाँ सुप्रतिष्ठित करती हैं, अर्थात् उसी का भिन्न कालिक पर्यायों के द्वारा अथवा

विभिन्न कालों के द्वारा भेद स्वीकार करने भेदाभेद की एकनिष्ठता स्वीकृत हो जाने से स्याद्वाद सिद्धान्त का अङ्गीकरण फलित हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यभिज्ञा-रूप ज्ञान का सप्तभङ्गी द्वारा समर्पित होने वाले वस्तुस्वरूप की प्रकाशकता प्राप्त हो जाती है।

तद्धेम कुण्डलतया विगतं यदुच्चै-
रुत्पन्नमङ्गदतयाऽचलितं स्वभावात्।
लोका अपीदमनुभूतिपदं स्पृशन्तो
न त्वां श्रयन्ति यदि तत्तदभाग्यमुग्रम् ॥ २८ ॥

जो सुवर्ण पहले कुण्डल के आकार में रहता है और बाद में जब अङ्गद के प्रकट आकार में उत्पन्न होता है तब अपने पूर्व आकार का त्याग कर देता है, अर्थात् अपने पूर्ववर्ती कुण्डलरूप से निवृत्त हो जाता है किन्तु अपने नैसर्गिक सुवर्णत्व 'सुवर्णद्रव्यात्मकता' का त्याग नहीं करता, अर्थात् विभिन्न रूपों से जनन और नाश का आस्पद होते रहने पर भी अपने स्थायी रूप में सुरक्षित ही रहता है। कहने का भाव यह है कि प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, विनाश और स्थायित्व इन तीन धर्मों से सदा सम्पन्न रहती है, अर्थात् आगन्तुक रूप से उत्पन्न, पूर्व गृहीत रूप से विनष्ट और द्रव्य रूप अर्थात् पूर्वोत्तर आकारों के आधार रूप से स्थिर रहती है, जैसे सुवर्णद्रव्य कुण्डल की निवृत्ति और अङ्गद की उत्पत्ति होने की दशा में भी ज्यों का त्यों बना रहता है।

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न उठ सकता है कि कुण्डल आदि से अतिरिक्त सुवर्णद्रव्य का अस्तित्व ही असिद्ध है अतः कुण्डलात्मक सुवर्णद्रव्य का नाश और अङ्गदात्मक सुवर्णद्रव्य की उत्पत्ति होती है, बस, इतना ही ठीक है; किन्तु यह, कि इन दोनों से भिन्न कोई सुवर्णनामक तृतीय द्रव्य इन दोनों में अनुस्यूत है, नितान्त असत्य है, हाँ उक्त दोनों भूषणों में सुवर्णत्व की प्रतीति होती है पर वह तो उन दोनों में एक सुवर्णत्व जाति को स्वीकार कर लेने से उपपन्न हो सकती है, इस लिये कुण्डल, अङ्गद आदि में अनुस्यूत सुवर्ण के दृष्टान्त से विभिन्न पर्यायों के एक स्थिर आधार का साधन नहीं हो सकता।

इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही सरल और स्पष्ट है, वह यह कि कुण्डल, अङ्गद आदि विभिन्न अवस्थाओं में जो सुवर्णभाव का अनुभव होता है; उसकी उपपत्ति सुवर्णत्व-जाति द्वारा नहीं हो सकती है क्योंकि कुण्डलत्व आदि के साथ सांकर्य हो जाने से सुवर्णत्व को जातिरूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। सांकर्य इस प्रकार है-रजत से बने कुण्डल में कुण्डलत्व है किन्तु उसमें सुवर्णत्व नहीं है और सुवर्णत्व पिण्डभूत सुवर्ण या स्वर्णरचित अङ्गद में है किन्तु उसमें

कुण्डलत्व नहीं है, इस प्रकार एक दूसरे के अभाव के आश्रय में रहने वाले कुण्डलत्व और सुवर्णत्व का स्वर्णमय कुण्डल में अस्तित्व है।

यदि यह कहा जाय कि सुवर्णत्व जाति से न सही, सुवर्णत्व नामक अखण्ड उपाधि से ही उक्त अनुभव की उपपत्ति हो जाने से सुवर्ण नामक एक स्थायी द्रव्य की सिद्धि का मार्गावरोध होगा, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि एकाकार प्रतीतियों के बल से प्रतिष्ठित होने वाले धर्म को 'उपाधि' इस नामान्तर से स्वीकार कर लेने पर अन्य युक्तियों से भी सिद्ध होने वाले अनुगत धर्मों को उपाधि की कक्षा में निहित कर देने से जातिपदार्थ का उच्छेद हो जायगा, अतः जातिवादी को उपाधि-स्वीकार को अपसिद्धान्त ही घोषित करना होगा, और जो सांकर्य सुवर्णत्व को जाति से बहिर्भूत कर देता है वह उसे उपाधि की श्रेणी से पृथक् करने में संकोच क्यों करेगा? सांकर्य का जातित्व से ही वैर है उपाधित्व से नहीं यह तो केवल कल्पना-मात्र है, क्योंकि जो उपाधियां जाति का प्रतिनिधित्व करेंगी उन्हें जाति के वैरियों से वैर और मित्रों से मित्रता करनी ही होगी।

इस प्रकार यह निश्चित बात है कि कुण्डल और अङ्गद आदि विभिन्न-कालिक पर्यायों में होने वाले सुवर्णभाव के अनुभव का उपपादन सुवर्णत्व नाम की जाति या उपाधि से नहीं हो सकता, इस लिये उक्त अनुभव के समर्थनार्थ उन विभिन्न पर्यायों में एक अनुगत स्थायी सुवर्णद्रव्य का अङ्गीकार अनिवार्य है।

ऐसी स्थिति में इस एकान्त सत्य का अनुभव करते रहने पर भी जो लोग हे भगवन्, आप का आश्रय नहीं स्वीकार करते उनका यह उत्कट अभाग्य है।

स्वद्रव्यतां यदधिकृत्य तदात्मभावं
गच्छत्यदः कथमहो परजात्यभिन्नम्।
तात्पर्यमेदभजना भवदागमार्थः स्याद्वा-
दमुद्रितनिधिः सुलभो न चान्यैः॥ २९॥

जो पदार्थ स्वद्रव्यता के द्वारा तादात्म्य को प्राप्त करता है वह परजाति-तिर्यक्सामान्य के द्वारा तादात्म्य को कैसे प्राप्त कर सकता है? अर्थात् स्व-द्रव्यतामूलक तादात्म्य का प्रतिनिधित्व एकजातीयता को नहीं प्राप्त हो सकता।

कहने का आशय यह है कि "जो कुण्डल था वह अङ्गद बन गया" इस प्रकार क्रम से कुण्डल और अङ्गद का आकार प्राप्त करने वाले पदार्थ में जो

तादात्म्य व्यवहृत होता है उसका कारण उस पदार्थ की जातिगत एकता नहीं किन्तु कुण्डल और अङ्गद इन दोनों अवस्थाओं में अनुगत, अक्षुण्ण भाव से स्थित रहने वाले सुवर्णद्रव्य की एकता ही है।

यदि उसका कारण जातिगत एकता होती तो "जिस जाति का पदार्थ कुण्डल रूप में था उसी जाति का पदार्थ अङ्गद रूप में परिवर्तित हो गया" अथवा "कुण्डल और अङ्गद ये एकजातीय पदार्थ की दो अवस्थायें हैं" इसी प्रकार का व्यवहार होता न कि 'जो कुण्डल के रूप में था वही अङ्गद के रूप में बदल गया" अथवा "कुण्डल और अङ्गद ये एक ही सुवर्णद्रव्य की दो अवस्थायें हैं" ऐसा व्यवहार होता, यह तो कुण्डल और अङ्गद इन दोनों अवस्थाओं के आधार द्रव्य की एकता ही से सम्भव है।

स्वद्रव्यतामूलक तादात्म्य का प्रतिनिधित्व एकजातीयता नहीं कर सकती, इसी लिये "द्रव्य रूप वाला है—द्रव्यं रूपवत्" इस प्रकार द्रव्यमात्र में रूपवान् के तादात्म्य का व्यवहार नहीं होता, किन्तु "द्रव्य गुण वाला है—द्रव्यं गुणवत्" इस प्रकार द्रव्यमात्र में गुणवान् के तादात्म्य का व्यवहार होता है, क्योंकि रूपवान् के तादात्म्य का मूल रूपद्रव्यता द्रव्यमात्र में नहीं है परन्तु गुणवान् के तादात्म्य का मूल गुणद्रव्यता द्रव्यमात्र में है।

यदि रूपवान् के तादात्म्य का मूल रूपद्रव्यता के बदले रूपवान् की सजातीयता को माना जायगा तो द्रव्यत्व जाति के द्वारा रूपवान् की सजातीयता सभी द्रव्यों में रहने के कारण रूपवान् का तादात्म्य द्रव्यमात्र में प्राप्त होगा। फलतः द्रव्यमात्र में रूपवान् के तादात्म्य-व्यवहार की प्रसक्ति अनिवार्य हो जायगी।

यहाँ इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि द्रव्यमात्र में रूपद्रव्यता के अस्तित्व का अस्वीकार और गुणद्रव्यता के अस्तित्व का स्वीकार क्यों किया जाता है?

इसका उत्तर समझने के लिये स्वद्रव्यता का अर्थ समझना होगा, जो इस प्रकार है।

जगत् के आगमापायी भावों का जनन और निधन अथवा प्राकट्य और तिरोधान जिन आधारभूत भावों में होता है उन्हें 'सामान्य' और आगमापायी भावों को 'विशेष' शब्द से व्यवहृत करने पर स्वद्रव्यता का अर्थ होगा स्वात्मक विशेष की अपेक्षा सामान्यरूपता। और यदि आगमापायी भावों को 'पर्याय' और उनके आधारभूत भावों को 'द्रव्य' शब्द से व्यवहृत किया जायगा तो स्वद्रव्यता का अर्थ होगा स्वात्मक पर्याय की अपेक्षा द्रव्यरूपता, इसी प्रकार

आगमापायी भावों को 'उपादेय' शब्द से और उनके आधारभूत भावों को 'उपादान' शब्द से व्यवहृत करने पर स्वद्रव्यता का अर्थ होगा स्वात्मक उपादेय की उपादानकारणता ।

स्वद्रव्यता का यह अर्थ समझ लेने पर उक्त प्रश्नों का समाधान पाना सरल हो जाता है । जैसे रूपवान् के तादात्म्य का मूल रूपद्रव्यता के द्रव्यमात्र में न मानने का कारण क्या है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि रूप का जनन आदि सब द्रव्यों में नहीं होता, अतः रूपात्मक विशेष की अपेक्षा सामान्यरूपता या रूपात्मक पर्याय की अपेक्षा द्रव्यरूपता अथवा रूप की उपादान कारणता सब द्रव्यों में नहीं मानी जाती, इसीलिये रूपद्रव्यता का अस्तित्व द्रव्यमात्र में नहीं माना जाता । इसी प्रकार गुणवान् के तादात्म्य का मूल गुणद्रव्यता को द्रव्य-मात्र में मानने का कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि गुण का जनन आदि सब द्रव्यों में होता है अतः गुणात्मक विशेष की अपेक्षा सामान्य-रूपता या गुणात्मक पर्याय की अपेक्षा द्रव्यरूपता अथवा गुणात्मक कार्य की उपादानकारणता सब द्रव्यों में मानी जाती है, इसी लिये गुणद्रव्यता का अस्तित्व द्रव्यमात्र में माना जाता है ।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जैसे जिन द्रव्यों में रूप का अस्तित्व होता है, केवल उनकी दृष्टि से द्रव्य शब्द का प्रयोग करने पर "द्रव्य रूपवान् होता है" इस व्यवहार की प्रामाणिकता और सब द्रव्यों की दृष्टि से द्रव्य शब्द का प्रयोग करने पर उक्त व्यवहार की अप्रामाणिकता, ये दोनों ही बातें मान्य हो सकती हैं । एवं एक घट के रहते हुये भी अविद्यमान घट के अभाव की दृष्टि से "इस स्थान में घट नहीं है" इस वाक्य की प्रामाणिकता और विद्यमान घट के अभाव की अथवा घटसामान्याभाव की दृष्टि से उक्त वाक्य की अप्रामा-णिकता ये दोनों बातें मान्य हो सकती हैं । उसी प्रकार स्वद्रव्यतामूलक तादात्म्य के समान एकजातीयतामूलक तादात्म्य भी माना जा सकता है, अतः जो पदार्थ स्वद्रव्यतामूलक तादात्म्य को प्राप्त करता है वह एकजातीयतामूलक तादात्म्य को नहीं प्रकार कर सकता—यह कथन ठीक नहीं है ।

इसका उत्तर इस श्लोक के उत्तरार्ध में इस प्रकार दिया गया है । तात्पर्यभेद, दृष्टिभेद अथवा अपेक्षाभेद से पदार्थों की अनेकान्तरूपता जैनागमों में ही प्रतिपादित हुई है और जैनागमों के जन्मदाता जिनेन्द्र भगवान् ने पदार्थों की अनेकान्तरूपता-स्वरूप अपनी निधि को सप्तभङ्गीरूपिणी मञ्जूषा में सुरक्षित रूप से रखकर उसे स्याद्वाद की अपनी मुद्रा से अंकित कर दिया है, अतः जिन लोगों की अन्तरात्मा जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति से अनुप्राणित नहीं है वे लोग उस निधि को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ हैं ।

तात्पर्य यह है कि पदार्थों का कोई एक ही नियत स्वरूप नहीं है किन्तु वे परस्परविरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक रूपों के आस्पद हैं, इसलिये उनका साकल्येन परिचय स्याद्वाद से उपोद्वलित सप्तभङ्गी नय द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, उसकी अवहेलना कर तात्पर्य आदि के भेद से वस्तु का वर्णन अनधिकार चेष्टामात्र है।

सामान्यमेव तव देव ! तदूर्ध्वताख्यं
द्रव्यं वदन्त्यनुगतं क्रमिकक्षणौघे ।
एषैव तिर्यगपि दिग् बहुदेशयुक्ते
नात्यन्तभिन्नमुभयं प्रतियोगिनस्तु ॥ ३० ॥

इस श्लोक में महावीर स्वामी का संबोधन करते हुये ग्रन्थकार का कथन है कि हे देव ! विद्वान् गण द्रव्य पदार्थ को सामान्यरूप मानते हैं और उसे ऊर्ध्वता के नाम से पुकारते हैं। उनकी इस मान्यता का कारण यह है कि द्रव्य पदार्थ क्रम से होने वाले क्षणिक और स्थायी पर्याय समूहों में अनुगत रूप से विद्यमान रहता है।

विद्वानों का यह भी कथन है कि द्रव्यपदार्थ सामान्यरूप होने के साथ-साथ आपेक्षिक भी है, अर्थात् जो पदार्थ किसी एक वस्तु की अपेक्षा द्रव्यरूप है वही दूसरे की अपेक्षा अद्रव्यरूप होता है और जो किसी एक की अपेक्षा अद्रव्यरूप है वही दूसरे की अपेक्षा द्रव्यरूप भी है जैसे मृत्तिका घट की अपेक्षा द्रव्य है और पट की अपेक्षा अद्रव्य है। इसी प्रकार घट घट, पट आदि की अपेक्षा अद्रव्यरूप है पर अपने रूप, स्पर्श आदि गुणों की अपेक्षा द्रव्यरूप है।

द्रव्य की यह आपेक्षिकता न्याय आदि दर्शनों में भी मानी गई है, क्योंकि न्याय, वैशेषिक दर्शनों में समवायिकारणता को द्रव्य का लक्षण बताया गया है, और कारणता कार्यसापेक्ष होने के नाते कार्य के भेद से भिन्न होती है, इस लिये जिस कार्य की समवायिकारणता जिसमें रहती हैं अर्थात् जो कार्य जिसमें समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह उस कार्य की अपेक्षा द्रव्य है और द्रव्य की अपेक्षा अद्रव्य है।

द्रव्य के समान पर्याय भी आपेक्षिक होता है, अर्थात् एक ही वस्तु किसी की अपेक्षा पर्यायरूप और किसी की अपेक्षा अपर्यायरूप होती है। जैसे घट मृत्तिका की अपेक्षा पर्याय और सूत की अपेक्षा अपर्यायरूप है। इस प्रसङ्ग में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि न तो सब द्रव्य पर्यायरूप होते हैं और न सब पर्याय द्रव्यरूप होते हैं, जैसे परमाणु द्रव्यरूप ही होते हैं पर्यायरूप नहीं होते, और रूप स्पर्श आदि पदार्थ पर्यायरूप ही होते हैं द्रव्यरूप नहीं होते।

परमाणु से ऊपर के सभी स्थूल जड़ पदार्थ द्रव्य और पर्याय दोनों होते हैं, परन्तु आत्मा द्रव्यरूप ही होता है पर्यायरूप नहीं होता।

ऊपर किये गये वर्णन के अनुसार यद्यपि द्रव्यत्व और पर्यायत्व की ही आपेक्षिकरूपता स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है तो भी द्रव्य और पर्यायों में द्रव्यत्व और पर्यायत्व का भेद न रहने के कारण द्रव्य को ऊर्ध्वतासामान्यरूप और द्रव्य तथा पर्याय को आपेक्षिकरूप माना जाता है।

जो युक्ति ऊर्ध्वतासामान्य के साधनार्थ बतायी गयी है उसी अथवा वैसी ही युक्ति से तिर्यक् सामान्य का भी साधन होता है, अर्थात् जैसे विभिन्न दिशाओं और समयों में अनुगत रूप से ऊर्ध्वतासामान्य सिद्ध होता है वैसे ही विभिन्न देशों-घट आदि पदार्थों में अनुगत रूप से तिर्यक् सामान्य की भी सिद्धि अनिवार्य है।

ऊर्ध्वतासामान्य और तिर्यक् सामान्य दोनों के विषय में यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि वे दोनों अपने आश्रय से अत्यन्त भिन्न नहीं होते, अर्थात् कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न भी होते हैं। यदि यह भेदाभेद न माना जायगा तो उक्त सामान्यों में और उनके आश्रयों में धर्मधर्मिभाव अथवा आश्रिताश्रयभाव नहीं हो सकेगा, क्योंकि अत्यन्त अभेद में आश्रिताश्रयभाव नहीं होता, जैसे तद्घट का आश्रय तद्घट नहीं होता, एवम् अत्यन्त भेद में भी आश्रिताश्रयभाव नहीं होता, जैसे घट पटत्व का आश्रय नहीं होता।

सम्बन्ध एव समवायहतेर्न जाति-
व्यक्त्योरभेदविरहेऽपि च धर्मिक्लृप्तौ।
स्याद् गौरवं ह्यनुगतव्यवहारपक्षेऽन्यो-
न्याश्रयोऽनुगतजातिनिमित्तके च ॥ ३१ ॥

इस श्लोक में जाति और व्यक्ति-जाति के आश्रय में अभेद सिद्ध करने वाले प्रमाण और युक्ति का वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है।

व्यक्ति जाति का आश्रय है, अथवा जाति व्यक्ति में आश्रित है, एवं व्यक्ति जाति से विशिष्ट है इन प्रामाणिक प्रतीतियों के अनुसार व्यक्ति और जाति में आश्रयाश्रितभाव अथवा विशेष्यविशेषणभाव माना जाता है, अतः व्यक्ति और जाति में सम्बन्ध मानना आवश्यक है, क्योंकि जिन वस्तुओं में परस्पर-सम्बन्ध नहीं होता उनमें आश्रयाश्रितभाव अथवा विशेष्य-विशेषणभाव नहीं होता, यदि सम्बन्ध के बिना आश्रयाश्रितभाव माना जायगा तो सब वस्तुओं में सब की आश्रयता हो जाने से समूचे विश्व में सांकर्य हो जायगा, जो किसी भी शास्त्र की दृष्टि में उचित नहीं है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाने पर कि व्यक्ति और जाति में आश्रयाश्रित-भाव अथवा विशेष्यविशेषणभाव के उत्पादनार्थ उन दोनों में कोई सम्बन्ध आवश्यक है, यह विचार करना चाहिये कि उनका परस्पर में कौन सा सम्बन्ध हो सकता है ?

संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों ही के बीच होता है अतः व्यक्ति के साथ जाति का संयोग सम्बन्ध नहीं बन सकता ।

व्यक्ति के साथ जाति का कालिक सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर घटत्व आदि जातियों का पट आदि पदार्थों के साथ कालिक सम्बन्ध होने के कारण घट आदि के समान पट आदि पदार्थों में भी घटत्व आदि जातियों की आश्रयता की आपत्ति होगी, और आत्मा आदि नित्य पदार्थों में जो काल या काल की उपाधिरूप नहीं हैं, कालिक सम्बन्ध न होने से जाति की आश्रयता न हो सकेगी । इन्हीं दोषों के कारण व्यक्ति के साथ जाति का दैशिक-दिङ्मूलक स्वरूप, सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि विभिन्न दिशाओं में रहने वाले घट आदि पदार्थों में घटत्व आदि जातियों की आश्रयता उपपन्न करने के लिये उन जातियों को सार्वदेशिक मानना होगा, फिर घटत्व आदि जातियों का दैशिक सम्बन्ध पट आदि में भी होने के कारण पट आदि को भी घट आदि के समान ही घटत्व आदि जातियों का आश्रय बनना पड़ेगा । एवम् आत्मा आदि व्यापक पदार्थों के दिशा और उसकी उपाधि से भिन्न होने के नाते उनमें दैशिक सम्बन्ध न होने के कारण उनमें जाति की आश्रयता असंगत हो जायगी ।

व्यक्ति के साथ जाति का स्वरूप सम्बन्ध भी यहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यक्ति का स्वरूप जातिगामी नहीं है और जाति का स्वरूप व्यक्तिगामी नहीं है, और सम्बन्ध की उभयगामिता आवश्यक है, अन्यथा घटत्व का स्वरूप जैसे घटगामी न होने पर भी घट में घटत्व की आधारता का सम्पादक होता है वैसे पटगामी न होने पर भी उसे पट में घटत्व की आधारता का सम्पादक होना पड़ेगा । व्यक्ति-स्वरूप को सम्बन्ध मानने के पक्ष में एक जाति की अनेक व्यक्ति होने के नाते एक जाति के सम्बन्ध को भी अनेक मानना होगा, अर्थात् एक जाति की अनेक सम्बन्धता अनेक व्यक्तियों में माननी पड़ेगी ।

समवाय भी उनके बीच का सम्बन्ध नहीं बन सकता क्योंकि सब जातियों का एक ही समवाय मानने पर सम्बन्धिसत्ता को सम्बन्धसत्ता का अनुचरी होने के कारण पट आदि में भी घटत्व आदि जातियों की आधारता अनिवार्य हो जायगी, और यदि जाति के भेद से समवाय को भिन्न माना जायगा तो अनन्त सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी ।

इस लिये व्यक्ति और जाति के बीच संयोग, कालिक, दैशिक, स्वरूप और समवाय सम्बन्ध न हो सकने के कारण और उनमें आश्रयाश्रितभाव अथवा विशेष्यविशेषणभाव के अनुरोध से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्यमेव मानने की आवश्यकता के कारण उनके बीच अभेद सम्बन्ध की स्वीकृति अनिवार्य है।

व्यक्ति से भिन्न जाति की कल्पना में गौरव दोष भी है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार हो सकता है।

जो लोग गो आदि व्यक्तियों से भिन्न गोत्व आदि जातियों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं वे लोग भी गोत्व आदि को केवल सामान्यरूप नहीं मानते किन्तु सामान्य-विशेष-रूप मानते हैं, क्योंकि गोत्व आदि जातियां यदि केवल सामान्यरूप होंगी तो गो आदि के अनुगत ज्ञान और अनुगत व्यवहार का साधन तो उनसे होगा परन्तु गो आदि में गो आदि से विजातीत पदार्थों के भेद का साधन न हो सकेगा, क्योंकि भेद का साधन सामान्य का कार्य न होकर विशेष का ही कार्य होता है। इसी प्रकार गोत्व आदि को केवल विशेषरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि केवल विशेषरूप मानने पर सामान्य के कार्य गो आदि के अनुगत ज्ञान और व्यवहार का साधन उनके द्वारा न हो सकेगा, इस लिये गोत्व आदि को सामान्य और विशेष उभयरूप ही यानना पड़ता है।

गोत्व आदि धर्म जिस समय विशेषत्व रूप से गृहीत होते हैं उस समय वे अपने आश्रय में अनुगत व्यवहार का साधन नहीं करते किन्तु अन्य पदार्थों के भेदज्ञान का ही साधन करते हैं, इस लिये उस दशा में उनसे अनुगत व्यवहार की आपत्ति का परिहार करने के लिये यह कल्पना करनी होगी कि जिस समय गोत्व आदि विशेषत्व रूप से गृहीत नहीं होते उसी समय उनको अनुगत व्यवहार की कारणता होती है, अर्थात् विशेषत्वरूप से अगृह्यमाण गोत्व आदि को गो आदि के अनुगत व्यवहार की कारणता होती है, परन्तु इस कल्पना में गौरव है अतः इस कल्पना की अपेक्षा यह कल्पना करने में लाघव है कि सामान्यत्वरूप से गृह्यमाण गोत्व आदि को ही उक्त व्यवहार की कारणता है।

अब यहाँ यह विचार स्वभावतः अवतीर्ण होता है कि जब गोत्व आदि अतिरिक्त वस्तु की कल्पना करने पर भी उनमें सामान्यत्व की कल्पना के द्वारा ही उनसे गो आदि के अनुगत व्यवहार का समर्थन करना पड़ता है तब उससे तो यही कल्पना अच्छी है कि गोत्व आदि कोई भिन्न सामान्य नहीं हैं किन्तु गो आदि व्यक्ति ही सामान्यरूप हैं, अतः वे स्वयं सामान्यत्वरूप से गो आदि के अनुगत व्यवहार का अर्जन करते हैं।

इस लिये यही मत न्याय्य है कि गोत्व आदि सामान्य अपने आश्रय से भिन्न नहीं हैं, वस्तुदृष्ट्या अपने आश्रय से अभिन्न होते हुये स्वरूपतः—सामान्यत्व, विशेषत्व आदि से अविशेषित—गृह्यमाण होकर अपने आश्रयों के अनुगत व्यवहार का जनन करते हैं, अर्थात् गोज्ञान ही गोव्यवहार का कारण होता है न कि अतिरिक्त गोत्व का ज्ञान गोव्यवहार का कारण होता है।

अनुगत व्यवहार अनुगत जाति ही के द्वारा सम्पादित हो सकता है, अतः अनुगत व्यवहार ही अनुगत जाति का साधक होता है, यह पक्ष भी अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होने के कारण अमान्य है। अन्योन्याश्रय इस प्रकार समझा जा सकता है—अनुगतव्यवहार का अनुगतत्व अथवा एकत्व को विषय करने वाला व्यवहार—यह अर्थ करने पर वह अनुगत जाति का साधक नहीं बन सकेगा, क्योंकि जो धर्म अनेक काल में अनुगत और एक व्यक्ति मात्र में आश्रित होता है उसमें भी कालदृष्ट्या अनुगतत्व और व्यक्तिदृष्ट्या एकत्व का व्यवहार होता है, परन्तु वह धर्म जातिरूप नहीं माना जाता, जैसे परमाणुगत रूप और विशेष पदार्थ। इस लिये अनुगत व्यवहार का - अनुगत जाति को विषय करने वाला व्यवहार—यही अर्थ करना होगा। फिर उसे अनुगत जाति का साधक मानने में अन्योन्याश्रय स्पष्ट ही है, क्योंकि व्यवहार में अनुगतजातिगोचरता सिद्ध हो जाने पर ही उसके उपपादनार्थ अनुगत जाति की सिद्धि हो सकती है और अनुगत जाति की सिद्धि हो जाने पर ही व्यवहार में अतुगतजातिगोचरता की सिद्धि हो सकती है।

जातेर्हि वृत्तिनियमो गदितः स्वभावा-
ज्जातिं विना न च ततो व्यवहारसिद्धिः।
उत्प्रेक्षितं ननु शिरोमणिकाणदृष्टेस्त्व-
द्वाक्यबोधरहितस्य न किञ्चिदेव ॥ ३२ ॥

इस श्लोक में प्रसिद्ध नैयायिक दीधितिकार रघुनाथशिरोमणि के जाति-विषयक विचार की आलोचना की गयी है। जो इस प्रकार है।

व्यक्ति से भिन्न जाति की कल्पना करने पर यह प्रश्न उठता है कि कोई जाति किसी समान आकार वाले व्यक्तियों में ही क्यों रहती है, जैसे गोत्व जाति सास्ना—गलकम्बल-सादड़ी से युक्त प्राणियों में अर्थात् गाय, बैल आदि में ही रहती है अन्य पशुओं में नहीं रहती है, यह क्यों? इस प्रश्न के अनेक उत्तर न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, किन्तु शिरोमणि ने उन उत्तरों पर अनास्था प्रकट करते हुये यह उत्तर दिया है कि यह जाति का स्वभाव है जो वह सब पदार्थों में न रह कर नियत पदार्थों में ही रहती है।

यह उत्तर देते हुये उन्होंने यह भी कहा है कि जाति के वर्तन का नियम तो स्वभाव द्वारा व्यवस्थापित हो सकता है पर उसके बल से अनुगत व्यवहार का समर्थन करके जाति को अन्यथासिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यवहार विषय-तन्त्र होता है अतः उसकी अननुगता और अनुगतता का उपपादन अननुगत और अनुगत विषय के द्वारा ही किया जा सकता है।

शिरोमणि के इस उत्तर के विषय में यशोविजय जी का कथन यह है कि उक्त उत्तर काणदृष्टि शिरोमणि की केवल उत्प्रेक्षा मात्र होने के कारण आदरास्पद नहीं हो सकता। उनका तात्पर्य यह है कि काण होने के नाते शिरोमणि की जैसे बाह्यदृष्टि अधूरी है वैसे ही महावीर स्वामी के उपदेश से वञ्चित रहने के कारण उनकी अन्तर्दृष्टि—ज्ञानदृष्टि-विचारदृष्टि भी अधूरी है, अतः यह बात उनके समझ में नहीं आसकती कि जगत् की प्रत्येक वस्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनन्त रूपों से युक्त है, इस लिये गो आदि पदार्थ जैसे विशेषरूप हैं वैसे ही कथञ्चित् सामान्यरूप भी हैं, इस लिये सामान्यरूप से उन्हीं के द्वारा अनुगत व्यवहार की सिद्धि हो जाने के कारण अतिरिक्त गोत्व आदि जाति की कल्पना अनावश्यक है।

भेदग्रहस्य हननाय य एष दोषः
प्रोक्तः परैस्तव मते ननु सोऽप्यभेदः ॥
त्वद्दृष्टवस्तुनि न मोघमनन्तभेदा-
भेदादिशक्तिशबले किमु दोषजालम् ॥ ३३ ॥

इस श्लोक में एक और हृदयस्पर्शी प्रकार से जाति और व्यक्ति के परस्पर अभेद का साधन किया गया है, जो इस प्रकार है।

भेद के दो प्रकार हैं, एक अन्यत्व और दूसरा भिन्नदेशत्व अर्थात् दो भिन्न दिशाओं में अथवा दो भिन्न देशों में रहना। जाति में व्यक्ति का अन्यत्वरूप भेद ही रहता है, दूसरा भेद नहीं रहता, किन्तु उसका विरोधी-भिन्नदेशता का अभावरूप अभेद रहता है। यह अभेद पहले भेद का विरोधी नहीं है अतः उसके साथ इसके रहने में कोई बाधा नहीं है।

इस अभेद के विषय में जैनदर्शन की अपनी साम्प्रदायिक ही दृष्टि नहीं है क्योंकि यह न्यायादि दर्शनों को भी मान्य है, अन्यथा जाति और व्यक्ति में भेद मानने पर विभिन्न और व्यवहित दो अधिकरणों में उनके प्रत्यक्ष की आपत्ति का दूसरा समाधान नहीं हो सकता, और उक्त अभेद स्वीकार करने पर उसे उक्त प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक मान लेने से उक्त आपत्ति का परिहार सुकर हो जाता है।

जैनमत तो ऐसा अद्भुत समन्वयकेन्द्र है कि इसमें किसी दोष का स्पर्श हो ही नहीं सकता क्योंकि इस मत के प्रवर्तक महापुरुष की दृष्टि में सारी वस्तुएँ अनन्त विचित्र धर्मों से सम्बलित हैं और सप्तभङ्गीनय के उज्ज्वल आलोक में पूर्णरूपेण परिस्फुट हैं।

एवं त्वभिन्नमथ भिन्नमसच्च सच्च
व्यक्त्यात्मजातिरचनावदनित्यनित्यम् ॥
बाह्यं तथाऽखिलमपि स्थितमन्तरङ्गं,
नैरात्म्यतस्तु न भयं भवदाश्रितानाम् ॥ ३४ ॥

इस श्लोक में सरल और स्पष्ट शब्दों द्वारा पदार्थों की अनेकान्तरूपता का निर्देश किया गया है। जैनशास्त्र के परमाचार्य की आदर्श दृष्टि में संसार का प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से अभिन्न भी है और भिन्न भी है. जैसे मूलद्रव्य की दृष्टि से अभिन्न और आगमापायी परिवर्तनों की दृष्टि से भिन्न, एवं असत् भी है और सत् भी है, जैसे—अपने निजी रूप से सत् और पर रूप से असत्, इसी प्रकार व्यक्ति स्वस्वरूप जाति और संस्थान का आस्पद है, अर्थात् जाति और संस्थान व्यक्ति से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। ऐसी ही स्थिति वस्तु की अनित्यता और नित्यता के विषय में भी है, अनित्यता और नित्यता ये दोनों धर्म भी अपेक्षाभेदसे एक वस्तु में अपना अस्तित्व प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की अपेक्षाभेद से बाह्य सत्ता भी है और आन्तर सत्ता भी, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ ज्ञानात्मक भी है और ज्ञान से भिन्न भी है। यह अनेकान्तरूपता केवल जड़ पदार्थों तक ही सीमित नहीं है किन्तु इसने आत्मा को भी आत्मतन्त्र कर लिया है, अतः अपेक्षाभेद से नैरात्म्य भी जैनशास्त्र को सम्मत है, किन्तु यह नैरात्म्य जैनागम के जन्मदाता की शरण में आए हुए प्राणियों के लिये किसी प्रकार के भय की वस्तु नहीं है, नैरात्म्य तो उन्हीं लोगों के लिए भयावह है जिन्हें जिनेन्द्र भगवान् के अनुग्रहरूपी प्रकाश को न पाने के कारण नैरात्म्य के साथ आत्मसत्ता के दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त है।

आत्मा तु तादृगपि मुख्यतयाऽस्ति
नित्यस्तद्भावतोऽव्ययतया गगनादिवत्ते ॥
चिन्मात्रमेव तु निरन्वयनाशि तत्त्वं
कः श्रद्दधातु यदि चेतयते सचेताः ॥ ३५ ॥

इस श्लोक में आत्मा की नित्यता को प्रधानता दी गयी है। श्लोक का भावार्थ यह है कि आत्मा यद्यपि नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्मों से युक्त

है तो भी प्रधानरूप से वह नित्य ही माना जाता है अर्थात् नित्यता आत्मा का नैसर्गिक तथा स्थायी धर्म है और अनित्यता कृत्रिम तथा अस्थायी, क्योंकि आत्मा अपने निजी रूप आत्मत्व से कभी च्युत नहीं होता, अतः जो उसके व्ययशील रूप हैं उन्हीं रूपों से वह अनित्य हो सकता है, इसे समझने में गगन का दृष्टान्त अधिक सहायक होगा, क्योंकि गगन भी शब्दरूप से अनित्य है और अपने द्रव्यरूप से सर्वथा अविकृत होने के नाते नित्य है। इस दृष्टिकोण से आत्मा का विचार करने पर बौद्धों का क्षणभङ्गवाद उसे एकान्तरूप से अनित्य नहीं बना सकता।

विज्ञानवादी बौद्ध का बाह्यार्थभङ्ग-वाद अर्थात् क्षणिक ज्ञान से भिन्न वस्तु की असत्ता का सिद्धान्त भी आत्मा की नित्यता पर आक्रमण नहीं कर सकता क्योंकि निरन्वय रूप से सर्वात्मना नष्ट हो जानेवाले क्षणिक ज्ञानमात्र के अस्तित्व का विचार किसी भी स्वस्थचित्त पुरुष के हृदय में किंचित् भी स्थान नहीं पा सकता, अर्थात् अपने जन्म के दूसरे ही क्षण सर्वतोभावेन नष्ट हो जानेवाला ज्ञानमात्र ही एक तत्त्व है और उससे भिन्न प्रतीत होने वाला सारा जगत् कल्पनामात्र है यह बात विचार के निकष पर सत्य नहीं उतर सकती।

इष्टस्त्वया तु परमार्थसतोरभेदोऽ-
भिन्नैकजात्यमुत वेद्यविधेर्मृषात्वम्।
इत्थं विचारपदवीं भवदुक्तिबाह्यो
नीतो न हेतुबलमाश्रयितुं समर्थः ॥ ३६ ॥

इस श्लोक में "ज्ञान से भिन्न वस्तु की सत्ता अप्रामाणिक है" विज्ञानवादी बौद्ध के इस मत के खण्डन का निर्देश किया गया है।

आत्मा अपने निजी रूप से नित्य है, अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप देह, इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध पाकर उनके अभ्युदय और अवसाद से प्रसाद और विषाद की अनुभूति करता है तथा उन्हींके सहयोग से अनेक प्रकार के प्रशस्त एवं मलिन आचरण करता हुआ अपने लिए नई-नई कर्मशृङ्खलायें तयार करता रहता है और इस प्रकार अपने ही हाथों खड़े किए गए भूलभुलैया के भवन में भटकता रहता है, किन्तु जब कभी उसके चिरसुप्त सुकृत का जागरण होता है तब उसके प्रभाव से सद्गुरु का सम्पर्क पा उसके उपदेशरूपी प्रकाश में सन्मार्ग प्राप्त करता है और उसे अपनाकर अपनी जीवनयात्रा का संचालन करता हुआ धीरे-धीरे अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

नित्य-आत्मवादियों के ये वाक्य विज्ञानवादी बौद्ध के कानों में शूल के समान चुभने लगते हैं और वह उनके विरोध में बोल उठता है कि क्षणिक ज्ञान

ही एक प्रामाणिक वस्तु है, उससे भिन्न दिखनेवाली सारी वस्तुयें अप्रामाणिक हैं, अतः आत्मा की नित्यता का सिद्धान्त सर्वथा असंगत है।

विज्ञानवादी के इस मत का खण्डन करने के उद्देश्य से यशोविजय जी उसके अभिप्राय का विश्लेषण प्रस्तुत श्लोक के पूर्वार्ध में इस प्रकार करते हैं, "ज्ञान से भिन्न वस्तु अप्रामाणिक है" इस मत का उद्घोष करने वाले विज्ञान-वादी के तात्पर्य का वर्णन तीन रूपों में किया जा सकता है। जैसे : —

(१) ज्ञान और ज्ञेय में अभेद है।

(२) ज्ञान और ज्ञेय में एकजातीयता है—ज्ञेय ज्ञान से विजातीय नहीं है।

(३) ज्ञान सत्य है किन्तु ज्ञेय अर्थात् उसका प्रकाश्य विषय असत्य है।

श्लोक के उत्तरार्ध में उक्त तीनों पक्षों के समर्थन की अशक्यता का संकेत किया गया है जो इस प्रकार है :—

ऊपर निर्दिष्ट किए हुए तीनों पक्षों में से किसी भी पक्ष को साधनीय रूप से ग्रहण कर उसके साधनार्थ विज्ञानवादी यदि किसी हेतु का प्रयोग करना चाहता है तो उस हेतु के दोषग्रस्त होने से उसे अपने पक्ष के समर्थन की आशा का परित्याग करना पड़ता है। जैसे प्रथम पक्ष के समथन में बहुधा तीन हेतुवों का प्रयोग होता है।

(१) सहोपलम्भनियम

(२) ग्राह्यत्व और—

(३) प्रकाशमानत्व।

(१) सहोपलम्भनियम का अर्थ है—नियम से साथ ही उपलब्ध होना। इस हेतु के अनुसार विज्ञानवादी का कथन यह है कि—ज्ञान को अपने विषय से अभिन्न होना चाहिये, क्योंकि वह अपने विषय के साथ ही उपलब्ध होता है, यदि वह अपने विषय से भिन्न होता तो उसे छोड़कर भी उसको वैसे ही उपलब्ध होना चाहिए था जैसे बाह्यार्थवादी के मत में पट से भिन्न घट पट को छोड़कर भी उपलब्ध होता है, परन्तु ज्ञान अपने विषय को त्याग कर कभी भी उपलब्ध नहीं होता। अतः परस्पर भिन्न दो वस्तुओं की अपेक्षा उक्त प्रकार से विलक्षण होने के कारण ज्ञान और ज्ञेय में अभेद ही मानना उचित है।

(२) ग्राह्यत्व का अर्थ है—ज्ञान का विषय होना, इस हेतु से ज्ञेय और ज्ञान में अभेद के साधन का प्रकार यह है, पदार्थ अपने ज्ञान से अभिन्न होता है क्योंकि वह सब ज्ञानों का विषय न होकर नियत ज्ञान का ही विषय होता है, यदि पदार्थ अपने से भिन्न ज्ञान का विषय होता तो उसके भेद के उसका

उल्लेख न करनेवाले ज्ञानों में भी रहने के कारण वह उन ज्ञानों का भी विषय होता, परन्तु यह बात नहीं है । इसलिए यह नियम मानना आवश्यक है कि पदार्थ अपने से अभिन्न ही ज्ञान का विषय होता है भिन्न ज्ञान का नहीं, फलतः ज्ञेय और ज्ञान का अभेद अनिवार्य है ।

(३) प्रकाशमानत्व का अर्थ है—प्रकाशित होना — विदित होना, इस हेतु के अनुसार यह कहा जा सकता है कि ज्ञेय अपने ज्ञान से अभिन्न है क्योंकि ज्ञान के साथ ही वह भी प्रकाशमान होता है, यदि ज्ञेय अपने ज्ञान से भिन्न होता तो ज्ञान का सधर्मा न होकर उसका विधर्मा होता, अर्थात् जब ज्ञान प्रकाशमान है तब ज्ञेय को अप्रकाशमान होना चाहिये था, पर ऐसा नहीं है, अतः प्रकाशमानत्वरूप से ज्ञान का सधर्मा होने के कारण ज्ञेय को ज्ञानरूप मानना आवश्यक है ।

ऊपर वर्णन किए गए तीनों हेतुओं में वह बात नहीं है जो एक वास्तविक हेतु को अपेक्षित होती है, वास्तविक हेतु को पक्ष अर्थात् जिसमें हेतु द्वारा साध्य के सम्बन्ध का निश्चय अपेक्षित हो, तथा साध्य अर्थात् हेतु द्वारा जिसकी सिद्धि वाञ्छित हो, इन दोनों से भिन्न होना चाहिये । एवम् अनुमिति–हेतुद्वारा पक्ष में साध्य के सम्बन्ध का निश्चय, को उसके कारण परामर्श—पक्ष में साध्यव्याप्य अर्थात् साध्य के नियत सहचारी के रूप से हेतु का निश्चय—पक्ष साध्यकी व्याप्तिसे विशिष्ट हेतुका आश्रय है, इस प्रकार का निश्चय—से भिन्न होना चाहिये, क्योंकि एक ही पदार्थ स्वयं पक्ष, साध्य तथा हेतु नहीं हो सकता तथा वही पदार्थ अपना कारण अथवा कार्य नहीं हो सकता । परन्तु विज्ञानवादी के मत में ज्ञान और ज्ञेय में परस्पर अभेद होने के कारण पक्ष, साध्य और हेतु में एवम् अनुमिति और परामर्श में परस्पर अभेद हो जाता है । क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय की अभिन्नता के सिद्धान्त के अनुसार परामर्श का विषय होने से पक्ष, साध्य और हेतु को परामर्श की अभिन्नता प्राप्त होती है और एक परामर्श से अभिन्न होने के कारण उन्हें परस्पर में भी अभिन्न होने को बाध्य होना पड़ता है, क्योकि उन तीनों में परस्पर भिन्नता रहने पर उनमें एक परामर्श की अभिन्नता बन नहीं सकती । इसी प्रकार अनुमिति भी परामर्श से अभिन्न बन जाती है क्योंकि वह भी उक्त प्रकार से परामर्श से अभिन्नता प्राप्त किए हुए अपने विषयभूत पक्ष तथा साध्य की अभिन्नता के परवश है । इस प्रकार अनुमिति एवं परामर्श में ऐक्य हो जाने के कारण उनमें कार्यकारणरूपता नहीं बन सकती तथा पक्ष, साध्य एवं हेतु में परस्पर अभिन्नता हो जाने के नाते उनमें पक्षरूपता, साध्यरूपता तथा हेतुरूपता नहीं बन सकती । अतः ज्ञान और ज्ञेय का अभेद नहीं माना जा सकता ।

ज्ञान और ज्ञेय के ऐक्यमत मे अन्य भी अनेक दोष हैं, जैसे—ज्ञान और ज्ञेय में यदि अभेद माना जायगा तो पशु और मनुष्य में भी अभेद हो जायगा, क्योंकि उसके विना वे उक्त मत में एक ज्ञान के विषय न बन सकेंगे, कारण कि ज्ञान का विषय होने के लिए ज्ञान से अभिन्न होना आवश्यक है और एक ज्ञान का अभेद भिन्न दो वस्तुओं में हो नहीं सकता, इसलिए विज्ञानवाद में ''यह पशु है और यह मनुष्य है'' इस समूहालम्बन ज्ञान के अनुरोध से पशु और मनुष्य में अभेद अपरिहार्य है। और उस दशा में पशुज्ञान तथा मनुष्यज्ञान की भिन्नाकारता का लोप होकर उनमें एकाकारता हो जायगी और फिर पशु तथा पशुज्ञान से मनुष्य तथा मनुष्यज्ञान के समस्त कार्य एवं मनुष्य तथा मनुष्यज्ञान से पशु तथा पशुज्ञान के समस्त कार्यों की उत्पत्ति का प्रसंग होगा जिसे लोकव्यवस्था का विघातक होने से कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस पर विज्ञानवादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि उक्त आपत्तियाँ तब हो सकती थीं जब ज्ञान की समानरूपता कथा विभिन्नरूपता विषयमूलक होती और ज्ञान एवं ज्ञानाकार के कार्यों में भेद होता, पर विज्ञानवाद इसे स्वीकार नहीं करता, उसका सिद्धान्त तो यह है कि ज्ञान और उसके सन्तान—प्रवाह क्षणिक, अगणित और परस्पर विलक्षण हैं, उनकी विलक्षणता भी उनके उन कारणों की देन हैं जो आकारभेद के साथ ही उन्हें जन्म प्रदान करते हैं और अपनी विलक्षणता अपने कारणों से अर्जित करते हैं। ज्ञान और ज्ञानाकार में एकता होने के नाते उनके कार्यों मे भेद नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि अलग-अलग होने वाले पशुज्ञान और मनुष्यज्ञान के आकारभूत पशु और मनुष्य जैसे परस्पर में भिन्न हैं वैसे ही समूहालम्बन एक ज्ञान के आकारभूत पशु और मनुष्य से भी भिन्न हैं। ज्ञान के आकाररूप विषय का अस्तित्व ज्ञान से पृथक् नहीं है, अतः ज्ञानाकार की सत्ता ज्ञान की सत्ता का सम्पादन करने वाले ज्ञानानुभव के अधीन ही है, अर्थात् ज्ञान का अनुभव जिस आकार में होता है उसी आकार में उसे स्वीकार करना उचित है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि पशु और मनुष्य में एक दूसरे के समस्त कार्य करने की क्षमता होने पर ही उन दोनों का उनके समूहालम्बन ज्ञान के साथ अभेद हो और समूहालम्बन ज्ञान के समय उनका एकीभाव होने से अलग-अलग होने वाले ज्ञान के समय भी उनमें परस्पर भेद न हो। फलतः अपने अनुभव के आधार पर जैसे भिन्न-भिन्न पशुज्ञान और मनुष्यज्ञान व्यवस्थित हैं उसी प्रकार पशु और मनुष्य इन उभय आकारों से एक समूहालम्बन ज्ञान भी अपने अनुभव के आधार पर व्यवस्थित है।

किन्तु विज्ञानवादी का उक्त कथन संगत नहीं हैं क्योंकि उससे इस प्रश्न का समाधान नहीं होता कि समूहालम्बन ज्ञान के पशु और मनुष्य इन दो आकारों में परस्पर में भेद है अथवा नहीं ? यदि है तो परस्परभिन्न दो आकारों का अभेद एक ज्ञान के साथ कैसे हो सकता है ? और यदि भेद नहीं है तो "यह पशु है और यह मनुष्य" अथवा "पशु और मनुष्य एक दूसरे से भिन्न हैं" इस प्रकार उन दोनों का भिन्न रूप मे ज्ञान कैसे हो सकता है ? और क्या समूहालम्बन ज्ञान के समय पशु और मनुष्य एक दूसरे के समस्त कार्य करते या कर सकते हैं ?

कहने का तात्पर्य यह है कि समूहालम्बन ज्ञान के समय भी उनके आकारों में कार्यभेदमूलक भेद होने के कारण उनका उस ज्ञान के साथ ऐक्य नहीं हो सकता, फिर जैसे समूहालम्बन ज्ञान और उनके आकारों में सहोपलम्भ का नियम होने पर भी परस्पर में ऐक्य नहीं किन्तु भेद ही है उसी प्रकार पशु, मनुष्य आदि पदार्थ और उनके असमूहालम्बन ज्ञान का नियमेन सहोपलम्भ होने पर भी उनमें अभेद नहीं हो सकता है। इस प्रकार सहोपलम्भनियमरूप हेतु समूहालम्बन ज्ञान तथा उसके आकारों में अभेद का व्यभिचारी हो जाता है। ज्ञान और ज्ञेय की एकता के मत में सहोपलम्भ—एक ज्ञान की विषयता भी उनके अभेद का साधन बन सकता है अतः नियमांश को उक्त हेतु का घटक बनाने की आवश्यकता न रहने के कारण सहोपलम्भनियम हेतु व्यर्थ विशेषण से घटित होने के कारण व्याप्यत्वासिद्ध भी हो जाता है।

उक्त हेतुओं का पृथक्-पृथक् परीक्षण

(१) सहोपलम्भनियम—यहाँ सहोपलम्भ का क्या अर्थ अभिमत है ?

(क) एककालिक उपलम्भ।

(ख) एकपुरुषीय उपलम्भ।

(ग) एककालिक एकपुरुषीय उपलम्भ।

(घ) एककारणाधीन उपलम्भ अथवा—

(ङ) एक उपलम्भ।

इनमें कोई भी अर्थ उपयुक्त नहीं है जैसे—

(क) एककालिक उपलम्भ का नियम भिन्नकालीनता का व्यावर्तक हो सकता है न कि भिन्नस्वरूपता का, क्योंकि एककालिक उपलम्भ का नियम यदि अभेदाश्रित ही होगा तो भिन्न मनुष्यों के दो ज्ञानों में भी अभेद हो जायगा, कारण कि क्षणिक और एककालिक होने से उन ज्ञानों का उपलम्भ एक ही काल में नियत रूप से होता है।

(ख) एकपुरुषीय उपलम्भ का नियम भी ज्ञेय और ज्ञान की एकता का साधन नहीं कर सकता, क्योंकि ज्ञान में तो उक्त नियम सम्भव है पर ज्ञेय में उक्त नियम कथमपि नहीं हो सकता, जैसे किसी एक मनुष्य को एक घट का ज्ञान हुआ तो उस ज्ञान का उपलम्भ तो वही मनुष्य करेगा जिसे वह ज्ञान हुआ है पर उसके विषय का उपलम्भ तो अन्य मनुष्यों को भी होता ही है। यदि यह कहा जाय कि ज्ञान और ज्ञेय की एकता के मत में ज्ञानभेद से वस्तुभेद होता है, अतः एक मनुष्य को दिखाई देने वाला घट दूसरे मनुष्य को दिखाई देने वाले घट से भिन्न है, इसलिये एक पुरुष के ज्ञान और उनके आकार–विषय ये दोनों एक ही पुरुष को नियमेन उपलब्ध होते हैं यह उक्ति ठीक ही है और इसके बल से ज्ञेय और ज्ञान में एकता का साधन भी सम्भव ही है, तो इसका उत्तर यह होगा कि ज्ञानभेद से विषयभेद नहीं माना जा सकता, यतः ऐसा मानने पर दो मनुष्यों को एक घट का दर्शन न हो सकेगा। फलतः "जिस घट को तुमने देखा था उसे मैंने भी देख लिया" इस प्रकार एक घट का दो मनुष्यों द्वारा देखा जाना, जो सर्वसम्मत है, उसका विरोध होगा।

(ग) एककालिक एकपुरुषीय उपलम्भ का नियम भी ज्ञान और ज्ञेय की एकता का साधन करने में असमर्थ ही है क्योंकि समूहालम्बन ज्ञान के विभिन्न दो आकारों में उक्त नियम होने पर भी एकता नहीं होती। कहने का भाव यह है कि विज्ञानवाद में साकार ज्ञान ही एक वस्तु है और वह स्वयंप्रकाश है। अतः जब किसी मनुष्य को समूहालम्बन ज्ञान होता है तो उसे उस ज्ञान और उसके विभिन्न आकारों का भी उपलम्भ होता ही है परन्तु उसके आकारों में अभेद नहीं होता। अतः एककालिक एकपुरुषीय उपलम्भ का नियम अभेद का व्यभिचारी हो जाता है।

(घ) एककारणाधीन उपलम्भ तथा

(ङ) एक उपलम्भ के नियम से भी लक्ष्य का साधन नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये दोनों नियम भी समूहालम्बन ज्ञान के परस्पर भिन्न आकारों में अभेद के व्यभिचारी हैं।

(२) ग्राह्यत्व—यह हेतु जेय और ज्ञान के अभेद का साधन करने में अप्रयोजक है अर्थात् वस्तु ज्ञान से अभिन्न होने पर ही ज्ञान का विषय बन सकती है, भिन्न होने पर नहीं, इस नियम को अस्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। अतः ज्ञान से भिन्न भी वस्तु उसका विषय हो सकती है, इसलिये ग्राह्यत्व हेतु से ज्ञेय और ज्ञान के अभेद का साधन सम्भव नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान को अपने से भिन्न वस्तु का ग्राहक नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्येक ज्ञान समस्त वस्तुओं का

ग्राहक हो जायगा और एक वस्तु का ज्ञाता सर्वज्ञ बन जायगा, अतः ज्ञान को अपने से अभिन्न वस्तु का ही ग्राहक मानना चाहिये और जिस ज्ञान से जिस वस्तु का विदित होना अनुभव सिद्ध है उसका उसी वस्तु से अभेद मानना चाहिये, जिससे एक ज्ञान को समस्त वस्तुओं की ग्राहकता तथा एक वस्तु के ज्ञाता को सर्वज्ञता की आपत्ति न हो। तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि "ज्ञान यदि अपने से भिन्न वस्तु का ग्राहक होगा तो प्रत्येक ज्ञान सब वस्तुओं का ग्राहक हो जायगा" इस अतिप्रसङ्ग का ज्ञान यदि माना जायगा तो "ज्ञान अपने से अभिन्न वस्तु का ही ग्राहक होता है भिन्न का नहीं" इस नियम का इस अतिप्रसंगज्ञान में ही भंग हो जायगा, कारण कि यह अतिप्रसंगज्ञान स्वयं एक है और उसके विषय अनेक हैं अतः यह अपने से भिन्न वस्तुओं का ही ग्राहक है। और यदि उक्त अतिप्रसंग का ज्ञान न माना जायगा तो ज्ञान से भिन्न वस्तु को ज्ञान का ग्राह्य मानने में भी कोई दोष न होगा। फलतः जो वस्तु जिस ज्ञान से ग्राह्य होती है वह उससे अभिन्न होती है यह नियम न बन सकेगा और इसीलिये ग्राह्यत्व हेतु से ज्ञेय मे ज्ञान के अभेद का साधन नहीं किया जा सकता।

(३) प्रकाशमानत्व—प्रकाशमानत्व शब्द में प्रकाश शब्द का ज्ञान अर्थ करने पर उसका अर्थ ज्ञानसम्बन्ध अथवा ज्ञानतादात्म्य होगा। पर ये दोनों ही अर्थ ज्ञेय और ज्ञान की एकता का साधन करने में समर्थ नहीं हो सकते।

ज्ञानसम्बन्ध से ज्ञानरूपता तब सिद्ध हो सकती है जब यह नियम माना जाय कि जिस वस्तु में जिसका सम्बन्ध होता है वह वस्तु तद्रूप होती है, पर यह नियम नहीं माना जा सकता क्योंकि यह नियम मानने पर पण्डित पुत्र के अपठित पिता में पण्डितरूपता और अन्धे पुत्र के चक्षुष्मान् पिता में अन्धेपन की आपत्ति होगी।

इसके साथ ही यह भी विचार उपस्थित होता है कि ज्ञेय के साथ ज्ञान का सम्बन्ध भी क्या हो सकता है ? यदि उनमें ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध माना जाय तो उससे इष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञेय और ज्ञान में भेद मानने पर भी उनमें ग्राह्यग्राहकभाव मानने में कोई आपत्ति वा अनुपपत्ति नहीं होती।

ज्ञेय को विषय और ज्ञान को विषयी मानकर उनमें विषयविषयिभाव सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता, क्यों कि ज्ञेय और ज्ञान की भिन्नता का विघटन किये विना ही उनमें विषयविषयिभाव भी उपपन्न हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि तादात्म्य से अतिरिक्त सारे सम्बन्ध भिन्नता के साथ सम्भव हैं। अतः तादात्म्य से भिन्न कोई भी सम्बन्ध मानने पर उससे ज्ञेय और ज्ञान की अभिन्नता का स्थापन नहीं किया जा सकता।

प्रकाश-ज्ञान के तादात्म्य सम्बन्ध से भी ज्ञेय और ज्ञान की अभिन्नता का साधन नहीं किया जा सकता, क्योंकि तादात्म्य को अभेदरूप मानने पर साध्य और हेतु में ऐक्य हो जाने से स्वरूपासिद्धि होगी। और यदि तादात्म्य को भेदसहवर्ती अभेद-रूप मानकर उससे शुद्ध अभेदमात्र का साधन करने का प्रयास किया जायगा तो वह भी नहीं हो सकेगा क्योंकि भेद-सहवर्ती अभेद का केवल अभेद से विरोध है। तादात्म्य को तन्मात्र में रहने वाला धर्म अथवा तत् में न रहने वाले धर्म का अभावरूप मानकर भी उसे ज्ञेय और ज्ञान के अभेदसाधन का हेतु नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि ज्ञानमात्र में रहने वाला धर्म तथा ज्ञान में न रहने वाले धर्म का अभाव ज्ञेय में सिद्ध नहीं है अतः उक्तरूप तादात्म्य को हेतु बनाने पर स्वरूपासिद्धि हो जायगी।

ज्ञेय और ज्ञान की अभिन्नजातीयता का खण्डन

सहोपलम्भनियम, ग्राह्यत्व और प्रकाशमानत्व हेतुओं से ज्ञेय में ज्ञान की 'अभिन्नजातीयता' अर्थात् एकजातीयता का भी साधन नहीं हो सकता। क्योंकि न्याय, वैशेषिक शास्त्रों के अनुसार सत्ता जाति के द्वारा ज्ञेय और ज्ञान में एकजातीयता होने पर भी जैसे ज्ञेय में ज्ञानत्व का सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही विज्ञानवादी के मत में भी एकजातीयता मान लेने से अर्थान्तर हो जायगा।

अभिन्नजातीयता के स्थान में यदि भिन्नजातीयता के अभाव को साध्य बनाया जायगा तो उक्त दोष तो नहीं होगा किन्तु भिन्नजातीयता के अभाव के साधन में उक्त हेतुवों में अप्रयोजकत्व दोष अवश्य होगा, क्योंकि भिन्नजातीयता मानने पर भी उक्त सभी हेतु उपपन्न हो जाते हैं।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान को विजातीय वस्तु का ग्राहक मानने पर प्रत्येक ज्ञान को समस्त वस्तुओं का ग्राहक होने की आपत्ति होगी क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त सभी वस्तुयें ज्ञान से विजातीय हैं, अतः यह नियम मानना आवश्यक है कि ज्ञान अविजातीय वस्तु का ही ग्राहक होता है। पर यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का दोष ~~ज्ञेय और~~ ज्ञान में सजातीयता वा विजातीयता का अभाव मानने पर भी बना ही रहेगा, कारण कि सभी ज्ञान और ज्ञेयों में एकजातीयता ~~वा विजातीयता~~ का अभाव होने से समस्त

ज्ञानों से समस्त ज्ञेयों के ग्रहण की आपत्ति अनिवार्य होगी। इसलिये यही कहना होगा कि ज्ञान अपने कारणों से नियत विषय का ग्राहक होकर ही उत्पन्न होते हैं अतः एक विषय के ज्ञान को अन्य विषयों की ग्राहकता नहीं प्राप्त होगी। फिर ऐसी स्थिति में ज्ञेय और ज्ञान में विजायतीयता मानने पर भी कोई आपत्ति न होने के कारण उन दोनों की अभिन्नजातीयता का सिद्धान्त निराधार है।

ज्ञेय की असत्यता का खण्डन

सूर्य के प्रखर प्रकाश में चमकती हुई सीपी तथा धुंधले प्रकाश में टेढ़ी मेढ़ी पड़ी हुई रस्सी पर आंख पड़ने पर कभी-कभी किसी-किसी मनुष्य को सीपी के स्थान में चांदी और रस्सी के स्थान में साँप के दर्शन होते हैं, पर इस चांदी और सांप को सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि निकट में जाकर सावधानी से देखने पर अथवा अन्य प्रकार से परीक्षा करने पर उन स्थानों में चांदी तथा सांप के दर्शन नहीं होते, एवं सच्ची चाँदी तथा सच्चे सांप की प्राप्ति नहीं होती। फलतः वह चांदी और वह साँप दोनों असत्य हैं।

अन्य स्थानों में जिस चांदी तथा सांप को जो मनुष्य पहले से देख रखता है उसको उस चांदी तथा उस सांप के संस्कार अथवा संस्कार-वश होने वाले उस चांदी तथा उस सांप के स्मरण के कारण सीपी के स्थान में उस चांदी का तथा रस्सी के स्थान में उस सांप का दर्शन होता है, अतः सीपी और रस्सी के स्थान मे जिस चांदी और सांप का दर्शन होता है उनके सत्य होने में कोई बाधा नहीं है। निकट में जाकर सावधानी से देखने पर उन स्थानों मे चांदी और सांप के दर्शन जो पुनः नहीं होते उसका कारण उस चांदी तथा उस सांप की असत्यता नहीं है किन्तु सीपी और रस्सी की पहचान है, अर्थात् सीपी में चांदी तथा रस्सी में सांप के दर्शन के कारणों में सीपी और रस्सी का न पहचानना भी सामिल है, इसलिये जब मनुष्य उन्हें पहचान लेता है तब उनका न पहचानना रूप कारण नहीं रह जाता, अतएव तब सीपी में चांदी और रस्सी में सांप के दर्शन नहीं होते। इसी प्रकार उन स्थानों में चांदी और सांप की जो प्राप्ति नहीं होती उसका भी कारण उनकी असत्यता नहीं किन्तु उन स्थानों में उनकी अविद्यमानता है, अर्थात् किसी स्थान में किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये केवल उस स्थान में उसका दिखाई पड़ना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उस स्थान में उसका रहना भी आवश्यक है, सीपी के स्थान में चांदी एवं रस्सी के स्थान में सांप का केवल दर्शन होता है, वहाँ वह वस्तुयें विद्यमान नहीं रहतीं, अतएव वहाँ उनकी प्राप्ति नहीं होती।

विचार करने पर यह कल्पना भी ठीक नहीं उतरती क्योंकि वैसा मानने पर "वह चांदी" और "वह सांप" इस प्रकार का अनुभव होना चाहिये न कि "यह चांदी" और "यह सांप" इस प्रकार का, पर होता है इस दूसरे प्रकार का ही अनुभव। अतः यही मानना होगा कि सीपी में दिखाई पड़ने वाली चांदी तथा रस्सी में दिखाई पड़ने वाला सांप दोनों ही असत्य हैं, और इस प्रकार जब कतिपय ज्ञानों के विषयों की असत्यता सिद्ध हो जायगी तो उन्ही दृष्टान्तों से समस्त ज्ञान के विषयों की भी असत्यता का अनुमान हो जायगा। फलतः यही सिद्धान्त स्थिर करना होगा कि जो कुछ भी ज्ञेय है वह सब असत्य है।

इस मान्यता पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि समस्त ज्ञान के विषय असत्य ही होंगे तो सीपी में जो चांदी का ज्ञान होता है और चांदी में जो चाँदी का ज्ञान होता है उनमें फलतः कोई अन्तर नहीं होना चाहिये। अर्थात् दोनों ज्ञानों से एक रूप ही चांदी की प्राप्ति होनी चाहिये और क्रय, विक्रय आदि में एक ही जैसा व्यवहार होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता इसलिये सीपी में दिखाई देनेवाली चांदी को असत्य और चांदी में दिखाई देनेवाली चांदी को सत्य मानना आवश्यक है।

इसका उत्तर यों दिया जा सकता है कि उक्त दोनों ज्ञानों में फलतः भी कोई विशेष वैषम्य नहीं है, क्योंकि सीपी को एक बार चाँदी समझ लेने के बाद जब तक उसे चाँदी से भिन्न नहीं समझा जाता तब तक लोकदृष्ट्या सच्ची समझी जाने वाली चाँदी के समान ही उसका व्यवहार होता है अर्थात् सीपी को चाँदी के रूप में देखने वाला व्यक्ति उसे पाकर चाँदी पाने का ही आनन्द अनुभव करता है और सीपी को चांदी समझने वाले मनुष्यों के बीच उसका आदान-प्रदान भी लोकसम्मत चाँदी के ही जैसा होता है। हाँ, जब वह चाँदी से भिन्न समझ ली जाती है तब वह चाँदी के व्यवहारक्षेत्र से पृथक् कर दी जाती है। यही बात लोकसम्मत चाँदी के भी सम्बन्ध में है, साधारण मनुष्य चाँदी और सीपी को सत्य मान कर उनमें उत्कर्ष और अपकर्ष की कल्पना कर लेता है और उसी के अनुसार उन दोनों के साथ विषम व्यवहार भी करता है, पर जिस उच्च मानव को उनके यथार्थ रूप-असत्यता का परिचय हो जाता है वह उनमें विषम व्यवहार नहीं करता, वह तो दोनों को ही हेय समझता है! यह भाव अध्यात्मचिन्तन में निरत पुरुषों में बहुधा उपलब्ध होता है।

पर यह उत्तर ठीक नहीं है क्योंकि समस्त ज्ञान के विषयों को असत्य मानने पर सीपी में दिखाई देने वाली चाँदी और लोकसम्मत चांदी में एक

ढंग के व्यवहार की आपत्ति का परिहार कथमपि सम्भव नहीं है। आध्यात्मिक पुरुषों के दृष्टान्त से दोनों में समान व्यवहार स्वीकार कर लेने की जो बात कही गई है वह उचित नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक पुरुष चाँदी आदि को जो हेय समझते हैं वह इसलिये कि वे वस्तुयें उनके साधनामार्ग में रोड़े के समान हैं, वे इस तथ्य को हृदय से समझते हैं कि चांदी, सोना आदि सांसारिक द्रव्यों के अनर्थकारी आकर्षण से ऊपर उठे विना अध्यात्म-यात्रा सुचारुता और सफलता के साथ पूरी नहीं की जा सकती, इसीलिये वे इन वस्तुओं की छाया से भी दूर भागते हैं।

ज्ञेयमात्र की असत्यता के पक्ष में इस प्रश्न का भी समाधान शक्य नहीं है कि सीपी में दिखाई पड़ने वाली चाँदी और लोकसम्मत चांदी दोनों यदि समान रूप से ही असत्य हैं तो सीपी की चाँदी का असत्यत्व क्यों अल्प काल में ही समझ में आ जाता है और लोकसम्मत चांदी का असत्यत्व अनेक जन्मों तक भी समझ में नहीं आता ?

इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सीपी में दीख पड़ने वाली जिस चाँदी के दृष्टान्त से ज्ञान के अन्य विषयों की असत्यता का अनुमान करने की आशा की जाती है उसकी भी असत्यता सिद्ध नहीं हो सकती क्यों कि सीपी में चांदी के प्रत्यक्ष जैसे विस्पष्ट अनुभव का होना सर्वसम्मत है जो चांदी को वहां सर्वथा असत् मानने पर कथमपि उपपन्न नहीं हो सकता, तो जब सीपी में दीख पड़ने वाली चाँदी की ही असत्यता सन्देह के गहन तम में तिरोहित है तब उसके उदाहरण से अन्य पदार्थों की असत्यता का साधन कैसे किया जा सकता है ?

यदि यह कहा जाय कि यदि ज्ञेय को ज्ञान से भिन्न अथवा अभिन्न किसी रूप में सत् नहीं माना जायगा तो समस्त ज्ञेय में समस्त ज्ञान की भिन्नता समान होने के कारण यह व्यवस्था न हो सकेगी कि कौन ज्ञेय किस ज्ञान का विषय हो और किस ज्ञान का विषय न हो, फलतः समस्त ज्ञेय को समस्त ज्ञान का विषय होने की आपत्ति उठ खड़ी होगी, जिसके परिहार का ज्ञान और ज्ञेय के परस्पर-भेद पक्ष में कोई उपाय नहीं है, और यदि ज्ञेय को ज्ञान से अभिन्न माना जायगा तो अनेक विषयों को प्रकाशित करनेवाले एक ज्ञान रूप समूहालम्बन ज्ञान की उपपत्ति नहीं होगी क्योंकि अनेक ज्ञेयों में एक ज्ञान का अभेद किसी प्रकार उपपन्न नहीं हो सकता, इसलिये ज्ञेय को जब ज्ञान से भिन्न अथवा अभिन्न रूप में सत् नहीं माना जा सकता तो अगत्या उसे असत्य ही मानना होगा और ज्ञेय की असत्यता के पक्ष में जो एक दो दोष बताये गये हैं उनके परिहार का मार्ग

ढूंढ़ निकाला जायगा, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञेय को असत् मानने पर भी ज्ञान और ज्ञेय के परस्परभेद-पक्ष में बताया गया दोष बना ही रहेगा, अर्थात् इस प्रश्न के समाधान की समस्या ज्यों की त्यों खड़ी रहेगी कि यदि ज्ञान असत्य विषय का ही संवेदन करता है तो यह क्यों ? कि एकाकार ज्ञान किसी एक विषय का ही संवेदन करता है अन्य का नहीं, जैसे नीलाकार ज्ञान नील का ही संवेदक होता है पीत का नहीं, ज्ञेय की असत्यता के पक्ष में तो सब ज्ञेय सब ज्ञान के लिये समान हैं अतः समस्त ज्ञान को समस्त ज्ञेयों का संवेदक होना चाहिए।

यदि यह कल्पना की जाय कि भिन्न-भिन्न आकार के ज्ञान का जन्म और भिन्न-भिन आकार के ज्ञानों से भिन्न-भिन्न आकार की वासनाओं का जन्म अज्ञात काल से प्रवाहरूप से होता आ रहा है और ज्ञान तथा वासनाओं में भी परस्पर भेद नहीं है किन्तु एक ही तत्त्व को अप्रकट अवस्था में वासना और प्रकट अवस्था में ज्ञान कहा जाता है, अतः वासना के अभ्युपगम से ज्ञान के सजातीयाद्वैतसिद्धान्त का भङ्ग भी नहीं हो सकता। हाँ तो, ज्ञान और वासना की यह धारा जब तक प्रवाहित होती रहेगी तब तक यह व्यवस्था भी चलती रहेगी कि जो ज्ञान जिस आकार का होगा, वह उस आकार से ज्ञेय का प्रकाशक होगा। अतः ज्ञेय के असत्य एवं ज्ञान से भिन्न होने पर भी यह आपत्ति नहीं हो सकती कि नीलाकार ज्ञान जैसे नील का संवेदक होता है वैसे उसे पीत आदि का भी संवेदक होना चाहिए। तो यह कल्पना भी ठीक नहीं है क्योंकि वासनाभेद की शरण लेने पर ज्ञानभेद मानने की भी आवश्यकता न रह जायगी, अर्थात् एक ही ज्ञान को भिन्न-भिन्न आकार की वासनाओं के सहयोग से भिन्न-भिन्न आकारों में असंकीर्ण रूप से विषयों का भासक माना जा सकेगा। फलतः ज्ञान की परस्परभिन्नता का लोप होकर ज्ञान के व्यक्त्यद्वैत की अथवा ज्ञान की भी सत्यता का लोप होकर माध्यमिक के शून्यवाद की प्रतिष्ठा होगी, क्योंकि यह भी कल्पना अनायासेन की जा सकती है कि जैसे ज्ञेय असत् होने पर भी संविदित होता है वैसे ज्ञान भी असत् होते हुये भी संविदित हो सकता है अतः ज्ञेय के समान ज्ञान का भी अस्तित्व अप्रामाणिक है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इस पद्य का निष्कर्ष यही है कि ज्ञेय की ज्ञानरूपता, ज्ञानसजातीयता तथा असत्यता युक्तिसङ्गत नहीं है।

आद्ये ह्यसिद्धिसहितौ व्यभिचारबाधौ
स्यादप्रयोजकतया च हतिर्द्वितीये।
शून्यत्वपर्यवसितिश्च भवेत्तृतीये स्या-
द्वादमाश्रयति चेद् विजयेत वादी ॥ ३७ ॥

ज्ञेय की ज्ञानरूपता, ज्ञानसजातीयता और असत्यता के पक्षों में जिन दोषों का निर्देश ३६वें श्लोक में किया गया है उनका इस श्लोक में संक्षिप्त रूप से संकलन कर दिया गया है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है।

ज्ञेय ज्ञानस्वरूप है अर्थात् ज्ञान से अभिन्न है, इस प्रथम पक्ष के साधन में असिद्धि, व्यभिचार और बाध दोष होते हैं, क्योंकि ज्ञान के साथ ही नियमतः उपलब्ध होने के कारण, सब ज्ञान का विषय न होकर नियत ज्ञान का ही विषय होने के कारण तथा ज्ञान से सम्बद्ध होने के कारण ज्ञेय ज्ञान से अभिन्न है। इस प्रकार प्रथम पक्ष के साधन का उपक्रम होने पर यह विचार उठता है कि इस अनुमान के द्वारा ज्ञेयत्वावच्छेदेन (ज्ञेयमात्र में) ज्ञान का अभेद साध्य है अथवा ज्ञेयत्वसामानाधिकरण्येन (किसी ज्ञेयविशेष में) ? यदि ज्ञेयमात्र में ज्ञान का अभेद साध्य होगा तो न्याय आदि मतों में बाध हो जायगा, क्योंकि उस मत में घट, पट आदि ज्ञेय वस्तुओं में ज्ञान का अभेद नहीं है और यदि किसी ज्ञेयविशेष में ज्ञान के अभेद का साधन किया जायगा तो ज्ञानरूप ज्ञेय में ज्ञान का अभेद सिद्ध रहने के कारण सिद्धसाधन हो जायगा।

इसी प्रकार यह भी विचार उठता है कि ज्ञान शब्द से साकार ज्ञान अभिप्रेत है अथवा निराकार ? यदि साकार ज्ञान का ग्रहण होगा तो न्याय आदि मतों में ज्ञान की साकारता अमान्य होने के कारण "ज्ञेय (साकार) ज्ञान से अभिन्न है" इस अनुमान में साध्याप्रसिद्धि-रूप दोष होगा और "(साकार) ज्ञान ज्ञेय से अभिन्न है" इस अनुमान में पक्षाप्रसिद्धि रूप दोष होगा। और यदि ज्ञान शब्द से निराकार ज्ञान का ग्रहण अभिप्रेत होगा तो साकारज्ञानवादी बौद्ध के मत में उक्त क्रम से उक्त दोनों दोष होंगे।

इसी प्रकार ज्ञेय शब्द के अर्थ का विचार करने पर भी ऐसे ही दोष प्रसक्त होते हैं। जैसे ज्ञेय से ज्ञानाकारस्वरूप वस्तु का ग्रहण करने पर निराकारज्ञानवादी नैयायिक आदि के मत में उक्त अनुमानों में क्रम से साध्याप्रसिद्धि और पक्षाप्रसिद्धि दोष होंगे, और ज्ञेय शब्द से ज्ञान से भिन्न वस्तु का ग्रहण करने पर विज्ञानवादी बौद्ध के मत में ज्ञान से भिन्न वस्तु अमान्य होने के कारण उक्त अनुमानों में उसी क्रम से उक्त दोनों दोष होंगे।

जो वस्तुयें नियमतः साथ ही उपलब्ध होती हैं वे परस्पर अभिन्न होती हैं, उक्त अनुमान की इस मूलव्याप्ति में व्यभिचार दोष है, क्योंकि समूहालम्बन ज्ञान के दो आकार नियमतः साथ ही उपलब्ध होते हैं पर वे परस्पर अभिन्न नहीं होते।

ज्ञेय और ज्ञान में अभिन्नजातीयता अर्थात् भिन्नजातीयता का अभाव है—इस दूसरे पक्ष के साधनार्थ उक्त हेतुओं का प्रयोग करने पर उनमें अप्रयोजकत्व दोष होता है, क्योंकि सहोपलम्भ, ग्राह्यग्राहकभाव तथा प्रकाशमानता इन तीनों के प्रति अभिन्नजातीयता एवं भिन्नजातीयता ये दोनों ही समान हैं, अतः वे हेतु भिन्नजातीयतापक्ष में भी उपपन्न हो जाते हैं इसलिये वे ज्ञेय और ज्ञान की अभिन्नजातीयता के प्रयोजक नहीं हो सकते।

ज्ञान सत्य है पर उसका विषय-ज्ञेय असत्य है—इस तीसरे पक्ष का साधन करने पर माध्यमिक के शून्यवाद की आपत्ति खड़ी होती है, क्योंकि ज्ञेय को असत् मानने पर भी जिस प्रकार उसकी प्रतीति तथा उसके अन्य कार्यों का उपपादन किया जाता है उसी प्रकार ज्ञान को भी असत् मानने पर उसकी भी प्रतीति आदि का उपपादन किया जा सकता है, अतः ज्ञान का भी अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता।

इस प्रकार जब उक्त तीनों ही पक्ष दोषग्रस्त हैं तब उनमें से किसी का भी अवलम्बन कर बौद्ध लोग नैयायिक को निरस्त नहीं कर सकते, हाँ, एक उपाय है जिसका अवलम्बन कर नैयायिक को पराजित किया जा सकता है, वह है स्याद्वाद का पादावलम्बन। बौद्ध यदि वस्तु की एकान्ततः ज्ञानरूपता और क्षणिकता का दुराग्रह छोड़ कर कथंचित् ज्ञानभिन्नता के साथ ज्ञानरूपता और स्थिरता के साथ क्षणिकता स्वीकार कर लें तो वस्तु को एकान्ततः ज्ञान से भिन्न तथा एकान्ततः स्थिर मानने वाले नैयायिक पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

धीग्राह्ययोर्न भिदास्ति सहोपलम्भात्
प्रातिस्विकेन परिणामगुणेन भेदः।
इत्थं तथागतमतेऽपि हि सप्तभङ्गी
संगीयते यदि तदा न भवद्विरोधः॥ ३८॥

इस श्लोक से बौद्धमत में भी सप्तभङ्गी नय का सम्भव बताया गया है, श्लोकार्थ इस प्रकार है।

जैनमत में सहोपलम्भविषयत्व अर्थात् नियमेन साथ ही उपलब्ध होना ज्ञान और ज्ञेय दोनों का साधारण धर्म है, किन्तु उनके पारिणामिक भाव उनके असाधारण धर्म हैं, क्योंकि द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि जो ज्ञेय के पारिणामिक भाव हैं वे ज्ञान के धर्म नहीं हैं और ज्ञानत्व, मतिज्ञानत्व आदि जो ज्ञान के पारिणामिक भाव हैं वे ज्ञेय के धर्म नहीं हैं, फलतः सहोपलम्भविषयत्वरूप साधारण धर्म की अपेक्षा ज्ञान और ज्ञेय में परस्पर

अभेद तथा पारिणामिकभाव-रूप असाधारण धर्म की अपेक्षा उनमें परस्पर भेद है ।

उक्त प्रकार से उन दोनों में अभेद इस नियम के कारण माना जाता है कि जिन पदार्थों का जो साधारण धर्म होता है उसकी दृष्टि से उनमें भेद नहीं होता । इस लिये जिस प्रकार द्रव्यत्व पृथिवी और जल का साधारण धर्म है अतः उसकी दृष्टि से वे दोनों परस्पर भिन्न नहीं होते । उनमें द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद का व्यवहार अर्थात् "जलपृथिव्यौ न द्रव्यम्—जल और पृथिवी द्रव्य नहीं हैं" ऐसा व्यवहार एवं जल में द्रव्यत्वावच्छिन्नपृथिवीमात्रनिष्ठप्रतियोगिताक भेद का व्यवहार अर्थात् "जलं द्रव्यत्वेन न पृथिवी—जल द्रव्यत्व की दृष्टि से पृथिवी से भिन्न है" ऐसा व्यवहार नहीं होता । उसी प्रकार सहोपलम्भविषयत्व ज्ञान और ज्ञेय का साधारण धर्म है अतः उसकी दृष्टि से उन दोनों में भी परस्परभेद नहीं है, फलतः ज्ञेय कथंचित्—सहोपलम्भदृष्ट्या ज्ञान से अभिन्न है ।

इसी प्रकार जैसे पृथिवीत्व एवं जलत्व पृथिवी और जल के साधारण धर्म न होकर उनके असाधारण धर्म हैं, इसी लिये जल में पृथिवीत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद अर्थात् पृथिवीत्वरूप से पृथिवी का भेद और पृथिवी में जलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद अर्थात् जलत्व रूप से जल का भेद रहता है वैसे ही घटत्व रूप सादि पारिणामिक एवं द्रव्यत्व रूप अनादि पारिणामिक भाव घटज्ञान के धर्म न होकर घटरूप ज्ञेय के असाधारण धर्म हैं और मतिज्ञानत्व आदि सादि पारिणामिक भाव एवं ज्ञानत्व रूप अनादि पारिणामिक भाव घटरूप ज्ञेय के धर्म न होकर घटज्ञान के असाधारण धर्म हैं, इस लिये ज्ञेय में न रहनेवाले मतिज्ञानत्व, ज्ञानत्व आदि धर्मों का आश्रय होने से ज्ञान में ज्ञेय का भेद और ज्ञान में न रहनेवाले घटत्व, द्रव्यत्व आदि धर्मों का आश्रय होने से ज्ञेय में ज्ञान का भेद रहता है । फलतः ज्ञान में ज्ञेय का और ज्ञेय में ज्ञान का कथंचित् भेद भी रहता है ।

इस प्रकार उक्त रीति से ज्ञान और ज्ञेय में परस्पर-भेद और परस्पर-अभेद इन दो भङ्गों के सम्भव होने से बौद्ध मत में भी सप्तभङ्गी नय का अवतरण हो सकता है । और इसे यदि बौद्धमत में स्वीकार कर लिया जाय तो जैनमत के साथ इस मत का विरोध समाप्त हो जाता है ।

स्याद्वाद एव तव सर्वमतोपजीव्यो
नान्योन्यशत्रुषु नयेषु नयान्तरस्य ।
निष्ठा बलं कृतधिया क्वचनापि न स्व-
व्याघातकं छलमुदीरयितुं च युक्तम् ॥ ३९ ॥

स्याद्वादसिद्धान्त में अन्य सभी मतों की बातें सम्मिलित रहती हैं, यह सिद्धान्त किसी अन्य मत का खण्डन नहीं करता किन्तु विभिन्न मतों में समन्वय और सामञ्जस्य स्थापित करता है। अतएव यह सब मतों का उपजीव्य— संरक्षक है: अन्य किसी सिद्धान्त को यह गौरव नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि अन्य सब सिद्धान्त एक दूसरे के प्रति घृणा के भाव से भरे होते हैं, वे अपनी बात को तो बड़ा आदर देते तथा बहुत युक्तिसंगत बताते हैं पर दूसरे की बात को बड़े अनादर से देखते और उसका बड़े आवेश तथा आडम्बर के साथ खण्डन करते हैं। इस प्रकार जो नय एक दूसरे के विरोधी हैं उनमें से किसी एक पर आस्था रखने वाले पुरुष को अन्य नय की सहायता से किसी प्रकार का बल नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि दूसरे नये नय को अपनाने से अपने निजी नय के आधार पर निश्चित किये गये पूर्व सिद्धान्त से च्युत हो जाना पड़ता है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को किसी मत का खण्डन करने के लिये दूसरे नय का छलरूप से भी प्रयोग करना ठीक नहीं है किन्तु अपने ही नय पर निर्भर रहना उचित है। इसलिये बौद्धमत के खण्डनार्थ नैयायिक को वेदान्त की नीति का अवलम्बन करना सर्वथा अनुचित है।

कः कं समाश्रयतु कुत्र नयोऽन्यतर्कात्
प्रामाण्यसंशयदशामनुभूय भूयः।
ताटस्थ्यमेव हि नयस्य निजं स्वरूपं
स्यार्थेष्वयोगविरहप्रतिपत्तिमात्रात् ॥ ४० ॥

प्रत्येक नय अन्य नय के तर्कानुसार अप्रामाणिक है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सा नय प्रमाण है और कौन सा अप्रमाण ? इसलिये किसी एक नय को सदोष सिद्ध करने के लिये कोई नय किसी नयान्तर का सहयोग नहीं प्राप्त कर सकता।

इस पर यह प्रश्न उठ सकता है कि अन्य नय के प्रतिपाद्य विषय को असत् बताते हुये अपने विषय को सत् सिद्ध करना ही नयों का कर्तव्य होता है, इसलिये जो नय दूसरे नय के विषय की असत्यता स्थापित करने में समर्थ न होगा वह नय कहलाने का ही अधिकारी कैसे हो सकेगा ?

इसका उत्तर बड़ी सरलता से इस प्रकार दिया जा सकता है कि अन्य नय के विषय की असत्यता का प्रतिपादन करना नय के कर्तव्यों में सम्मिलित नहीं है, उसका कर्तव्य तो अपने विषय की असत्यता के निषेध का प्रतिपादन करना तथा अन्य नय के विषयों की सत्यता वा असत्यता के प्रदर्शन में तटस्थ रहना ही है। तात्पर्य यह है कि नय की वास्तविकता अपने विषय के समर्थन में है

न कि दूसरे नयों के विषय के खण्डन में। इसलिये नयान्तर का विरोध न करने पर भी नय नयत्व से च्युत नहीं हो सकता। और इस प्रकार नयों के एक दूसरे के खण्डन का व्यापार छोड़ देने पर सब नयों के समन्वयवादी स्याद्वादनय की विजय ध्रुव हो जाती है।

त्यक्तस्वपक्षविषयस्य तु का वितण्डा
पाण्डित्यडिण्डिमडमत्करणेऽन्यनिष्ठा।
नग्नस्य नग्नकरतोऽपरनग्नशीर्षे
प्रक्षेपणं हि रजसोऽनुहरेत्तदेतत् ॥ ४१ ॥

इस श्लोक में वेदान्तनय के द्वारा माध्यमिक के मत का खण्डन करना नैयायिक को उचित नहीं है, इस बात का वर्णन किया गया है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

अपने सिद्धान्त का परित्याग कर अन्य नय अर्थात् वेदान्तनय में निष्ठाबद्ध होकर नैयायिक यदि वैतण्डिक के समान माध्यमिक के मत का खण्डन करने की चेष्टा करेगा तो वह अपने पाण्डित्य का डंका न बजा सकेगा, क्योंकि अपने पक्ष का त्याग करने को विवश होना विद्वत्ता का लक्षण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार की चेष्टा से नैयायिक के केवल पाण्डित्य और प्रतिष्ठा का ह्रासमात्र ही नहीं होता प्रत्युत आप से आप वह हास्यास्पद भी बन जाता है, क्योंकि उसका यह कार्य उस मनुष्य के समान है जो स्वयं नग्न होते हुये भी दूसरे नग्न मनुष्य के हाथ से धूल लेकर उसे किसी अन्य नग्न मनुष्य के शिर पर डालने का लज्जाकर कार्य करता है।

देशेन देशदलनं भजनापथे तु
त्वच्छासने निजकरेण मलापनोदः।
व्याघातकृन्न भजना भजना जनाना-
मित्थं स्थितौ शबलवस्तुविवेकसिद्धेः ॥ ४२ ॥

स्याद्वादी न्यायनय के द्वारा बौद्धमत का खण्डन कर सकता है। क्योंकि स्याद्वाद दर्शन में इस प्रकार का खण्डन अपने हाथ अपने अंग की मैल धोने के समान है कहने का तात्पर्य यह है कि स्याद्वाद में सब नयों का समावेश होने से सभी नय उसके अंगतुल्य हैं और एक दूसरे को दोषयुक्त ठहराने का उनका आग्रह ही उनका मल है, अतः अपने अंगभूत एक नय के द्वारा अपने अंगान्तररूप अन्य नय के उक्त मल का अपनयन करना स्याद्वादरूपी अंगी का उचित तथा आवश्यक कर्तव्य है।

यहाँ यह शंका करना कि जब न्यायनय एकान्तवादी होने के कारण वस्तुतः मिथ्या है तो सत्य के अन्वेषक स्याद्वादी को मध्यमिकमत के खण्डनार्थ भी उसका अवलम्बन करना अनुचित है, ठीक नहीं है, क्योंकि सभ्य समाज की दृष्टि में सत्य-प्राप्ति के उपाय रूप में असत्य को भी उपादेय माना जाता है। सभी वस्तुओं को अपने अंक में बिठाना ही स्याद्वाद का ध्येय है, अतः स्याद्वाद स्वयं भी स्याद्वाद के क्रोड में स्थित है अर्थात् वह स्वयं भी एकान्ततः न तो प्रमाण ही है और न नय ही, किन्तु अपेक्षाभेद से प्रमाण भी है और नय भी।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब जैनशास्त्र का यह आदेश है कि जो भाषा वस्तु के किसी एक ही रूप का अवधारण कराती हो, उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये, तब स्याद्वादी को नैयायिक के नय का प्रयोग करना कैसे उचित हो सकता है।

इसका उत्तर इस प्रकार है—

स्याद्वादी बौद्धसम्मत वस्तुधर्म का नितान्त निराकरण करने के अभिप्राय से न्यायनय का प्रयोग नहीं करता किन्तु यह सिद्ध करने के लिये करता है कि वस्तु बौद्धमतानुसार केवल क्षणिकत्व आदि धर्मों का ही आश्रय नहीं हैं अपितु न्यायमतानुसार स्थिरत्व और ज्ञानभिन्नत्व आदि धर्मों का भी आश्रय है, अतः बौद्धनयसापेक्ष ही न्यायनय को स्वीकार करने के कारण अवधारणफलक भाषा के प्रयोग का दोष स्याद्वादी को नहीं हो सकता।

स्याद्वादी किसी भी नय के प्रयोग करने का अधिकारी इसलिये भी है कि जैनदर्शन के अनुसार समस्त वस्तुओं के स्याद्वाद की गोद में स्थित होने के कारण कोई भी नय एकान्त रूप से स्याद्वाद से भिन्न नहीं है, एवं स्याद्वाद भी नय से अत्यन्त भिन्न नहीं है, और ऐसी स्थिति में नय के प्रयोग को सर्वथा वर्ज्य मानने पर सप्तभंगी नय का भी प्रयोग वर्ज्य हो जायगा अथवा सप्तभंगी नय के प्रयोग का औचित्य मानने पर अन्य नय के प्रयोग का भी औचित्य मानना अनिवार्य हो जायगा।

स्याद्वाद के प्रामाण्य में स्याद्वाद का प्रवेश होने से उसकी प्रमाणरूपता के व्याघात की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि स्याद्वाद के स्वयं भी स्याद्वाद के प्रभाव में पड़ने से ही उसके महत्त्व की रक्षा तथा उसके लक्ष्य— वस्तुमात्र की अनेकान्तरूपता—के साधन की पूर्ति हो सकती है।

नोच्चैर्बिभर्ति यदि नाम कृतान्तकोपा-
दुत्प्रेक्ष्य कल्पयति भिन्नपदार्थजालम्।

चित्रस्थले स्पृशति नैव तवोपपत्ति
तत्किं शिरोमणिरसौ वहतेऽभिमानम् ॥ ४३ ॥

अनिर्धारण-बोधक "स्यात्" पद से घटित होने के कारण एक धर्मी में परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का बोधक होने से सप्तभङ्गी नय प्रमाण नहीं हो सकता, इस प्रकार रघुनाथशिरोमणि ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किया है, इस श्लोक के द्वारा उसकी अज्ञानमूलकता बतायी गई है।

रघुनाथशिरोमणि ने वस्तु-तत्त्व का विवेचन करते समय न्याय, वैशेषिक के साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के समक्ष शिर न झुकाते हुये उनके विरोध का तनिक भर भी भय न कर अनेक पदार्थ स्वीकार किये हैं, किन्तु द्रव्य की चित्रता, जिसकी उचित उपपत्ति स्याद्वाद के विना हो ही नहीं सकती, उसके विषय में स्याद्वाद को नहीं स्वीकार किया, इससे ज्ञात होता है कि उन्हें स्याद्वादशास्त्र का परिचय नहीं था, अतः उनका यह अभिमान कि वे किसी एक शास्त्र का अन्धानुगमन नहीं करते किन्तु सभी शास्त्रों का सम्यक् परिशीलन करके ही वस्तुतत्त्व का विवेचन करते हैं, सर्वथा निराधार है, क्योंकि उन्होंने यदि जैनशास्त्र का परिशीलन किया होता तो उन्हें स्याद्वाद का परिचय अवश्य होता और उस दशा में वे उसकी उपेक्षा कथमपि न करते, प्रत्युत द्रव्य की चित्रता का सुन्दर समर्थन करने के लिये उसका पूर्ण आदर करते। कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य की चित्रता का समुचित उपपादन करने के लिये जैनशास्त्र का स्याद्वाद अनिवार्य रूप से उपादेय है, अतः उस पर दीधितिकार का आक्षेप असंगत तथा अज्ञानमूलक है।

चित्र रूप के बारे में भिन्न-भिन्न विचारकों के भिन्न-भिन्न मत हैं, न्याय, वैशेषिक दर्शन के साम्प्रदायिक विद्वानों का कथन है कि नील, पीत आदि अनेक रूपोंसे युक्त अवयवों द्वारा जो एक द्रव्य अवयवी उत्पन्न होता है, उसमें नील, पीत आदि अनेक रूपों की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु एक विजातीय रूप की उत्पत्ति होती है और उसी को चित्र रूप कहा जाता है।

दीधितिकार रघुनाथशिरोमणि का मत है कि विभिन्न रूप के अवयवों से उत्पन्न होने वाले अवयवी में नील, पीत आदि अनेक रूप ही उत्पन्न होते हैं, पर वे सब उस द्रव्य में अव्याप्यवृत्ति होते हैं अर्थात् उस द्रव्य के पूरे भाग में नहीं रहते किन्तु उसके एक-एक भाग में रहते हैं, इस प्रकार एक द्रव्य में अव्यापक रूप से रहने वाले अनेक रूपों के समुदाय को ही चित्र कहा जाता है, दीधितिकार के मतानुसार उक्त रीति से एक द्रव्य में रहने वाले विभिन्न रूपों की समष्टि का व्यावहार करने के लिये ही चित्र शब्द का आविष्कार हुआ है।

अन्य नैयायिकों का मत है कि विभिन्न रूप वाले अवयवों से उत्पन्न होने वाले अवयवी में नील, पीत आदि अनेक रूप ही उत्पन्न होते हैं और वे उसमें व्याप्यवृत्ति भी होते हैं, अर्थात् नील, पीत आदि रूप उस द्रव्य के पीत, नील आदि भागों में भी रहते हैं। इनके मतानुसार एक द्रव्य में व्यापक भाव से रहने वाले नील, पीत आदि अनेक रूपों की समष्टि को ही चित्र कहा जाता है। इस मत में यह शंका होती है कि यदि नील रूप चित्र द्रव्य के पीत आदि भागों में भी रहता है तो उन भागों में नील रूप का दर्शन क्यों नहीं होता। इसका उत्तर उस मत में यह दिया जाता है कि नील, पीत आदि रूपों के साथ नील, पीत आदि अवयवों के द्वारा होने वाला चक्षु का सन्निकर्ष ही नील, पीत, आदि रूपों के प्रत्यक्ष का कारण होता है अतः चित्र द्रव्य के पीत भाग में नील रूप का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि चित्र द्रव्य में यद्यपि नील, पीत आदि का अभाव नहीं रहता पर उसके पीत, नील अवयओं में नील, पीत आदि का अभाव तो रहता ही है, अतः जब चित्र द्रव्य के पीत भाग पर नेत्र की किरण पड़ती है तब पीत अवयव द्वारा ही चित्र द्रव्य के नील रूप के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है न कि नील अवयव के द्वारा अतः उस द्रव्य के पीत भाग में नील रूप का दर्शन नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस द्रव्य के जिस भाग में जैसा रूप रहता है उस भाग के द्वारा वैसे ही रूप का उस द्रव्य में प्रत्यक्ष हो सकता है क्योंकि रूप-प्रत्यक्ष और चक्षुः—सन्निकर्ष के उक्त कार्यकारणभाव से यही निष्कर्ष निकलता है।

चित्र रूप के सम्बन्ध में जैनदर्शन का विचार यह है कि नील, पीत आदि विभिन्न रूप वाले अवयवों से निष्पन्न होने वाले द्रव्य में नीलत्व, पीतत्व आदि विभिन्न जातियों से आलिङ्गित एक रूप की ही उत्पत्ति होती है, अर्थात् एक ही रूप कथंचित् नील और कथंचित् पीत आदि भी होता है, इस प्रकार नीलत्व, पीतत्व आदि अनेक जातियों का कथंचित् आस्पद होने वाला रूप ही चित्र शब्द से व्यवहृत होता है।

सांख्यः प्रधानमुपयंस्त्रिगुणं विचित्रां
बौद्धो धियं विशदयन्नथ गौतमीयः।
वैशेषिकश्च भुवि चित्रमनेकमेकं वाञ्छन्-
मतं न तव निन्दति चेत्सलज्जः॥ ४४॥

सांख्य सत्व, रजस्, और तमस् इन तीन गुणों से अभिन्न एक प्रकृति का अस्तित्व मानता है, ये तीनों गुण एक दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि इनके कार्य प्रकाश, क्रिया और आवरण एक दूसरे से भिन्न हैं, परस्पर भिन्न पदार्थों की

एकता साधारणतः असम्भव है, किन्तु सांख्य की दृष्टि में ये तीनों प्रकृति के रूप में एकीभूत हो जाते हैं, अतः यह कहना होगा कि सांख्य-मत में भी एक वस्तु दूसरी वस्तु से एकान्ततः भिन्न अथवा अभिन्न नहीं होती किन्तु अनेकान्त-वादी जैन-मत के अनुसार कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होती है। क्योंकि यदि ऐसा न माना जायगा तो परस्परभिन्न उक्त गुणों की एक प्रकृति से अभिन्नता का तथा एक प्रकृति की परस्परभिन्न उन तीन गुणों से अभिन्नता का समर्थन कैसे किया जा सकेगा ?

बौद्ध भी समूहालम्ब ज्ञान को एकाकार और अनेकाकार मानता हैं, समूहालम्बन ज्ञान स्वतः एक है और अपने एक स्वरूप का संवेदनकारी होने से एकाकार है। पर साथ ही नील, पीत आदि अनेकविध संवेदनकारी होने से नील, पीत आदि अनेक आकार वाला भी है, इस प्रकार वह एकाकार भी है और अनेकाकार भी है। बौद्ध की इस मान्यता का समर्थन भी अनेकान्तवाद की नीति से ही सम्भव है, अन्यथा एक ज्ञान में परस्पर विरुद्ध एकाकारता और अनेकाकारता का समन्वय कैसे हो सकता है ?

गौतम के न्यायदर्शन तथा कणाद के वैशेषिक दर्शन के मर्मज्ञ मनीषियों को भी चित्र रूप के सम्बन्ध में अनेकान्तवाद की शरण लेनी पड़ती है, क्योंकि पर्याप्त विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि चित्र कोई एक अतिरिक्त रूप नहीं है किन्तु नील, पीत आदि विभिन्न रूप वाले अवयवों से उत्पन्न होने वाले अवयवी में नीलत्व, पीतत्व आदि विभिन्न प्रकारों से प्रतीत होने वाला नील, पीत आदि कोई एक ही रूप चित्र शब्द से व्यवहृत होता है। अर्थात् उस ढंग के द्रव्य में कोई एक ही रूप कथंचित् नील, पीत आदि अनेक आकारों से आलिङ्गित होता है।

इसलिए यह स्पष्ट है कि उक्त दार्शनिकों को यदि कुछ भी शील, संकोच वा विवेक हो तो उन्हें जैनदर्शन के अनेकान्तवाद के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं बोलना चाहिये, क्यों कि वे अपने को अनेकान्तवादी न मानते हुए भी ऐसी अनेक बातें मानते हैं जो अनेकान्तवाद की परिधि मे ही पल्लवित हो सकती हैं।

तार्किकशिरोमणि रघुनाथ भट्टाचार्य ने संयोग आदि अव्याप्यवृत्ति (अपने अभाव के साथ एक स्थान में रहने वाले) गुणों के आश्रय में उन गुणों के आश्रय का भेद जैसे शाखा-द्वारा कपिसंयोग के आश्रयभूत वृक्ष में मूल-द्वारा कपिसंयोगी का भेद, तथा पट आदि द्रव्यों के आश्रय में घटत्व आदि रूपों से उनका अभाव, जैसे पटवान् भूतल में घटत्वेन पटाभाव जैसा नवीन अभाव माना है, पर स्याद्वाद को जिसके आधार पर ही उक्त मान्यतावों का समर्थन हो सकता

है, नहीं स्वीकार किया है, अतः शिरोमणि को सम्बोधित कर उपर्युक्त पद्य में कहा गया है, कि शिरोमणे ? जब तुम उक्त भेद और उक्त अभाव को स्वीकार करते हो तो उनके उपजीव्य स्याद्वाद को क्यों नहीं स्वीकार करते ? यह वाद तो समस्त विरोधियों के ऊपर विजय प्राप्त कराने वाला है, इसके द्वारा ही तो किसी पदार्थ का तलस्पर्शी पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है और इसके आधार पर ही तो उक्त भेद तथा अभाव का समर्थन हो सकता है। फिर तुम जब इस स्याद्वाद के समक्ष शिर न टेकोगे तो तुम अपने असाधारण अपूर्व तार्किक होने का अपना गर्व कैसे संभाल सकोगे ? अतः हम तुम्हारे हित की दृष्टि से हाथ बढ़ाकर तुम्हें यह बुद्धिदान करते हैं कि लो हमारा स्याद्वाद और अजेय बन जाओ इसके सहारे।

प्रासङ्गिक परिचय—

अव्याप्यवृत्ति—जिस पदार्थ के आश्रय में उसका अभाव भी देश-भेद वा कालभेद से रहता है उसे अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है, जैसे एक ही वृक्ष में उसके शाखात्मक भाग के द्वारा कपि का संयोग और पृथ्वी में छिपे मूलात्मक भाग के द्वारा कपिसंयोग का अभाव रहता है, एवं घट आदि जन्य द्रव्यों में उत्पत्ति काल में रूप आदि गुणों का अभाव और उत्पत्ति के बाद वाले क्षणों में उन गुणों का अस्तित्व रहता है, अतः संयोग तथा रूप आदि गुण अव्याप्यवृत्ति कहे जाते हैं, ये गुण जिस आश्रय में रहते हैं उसमें उन गुणों के आश्रय का भेद भी रहता है, क्योंकि सर्वसाधारण को यह प्रतीति होती है कि वृक्ष शाखा में कपि-संयोगवान् है मूल मे नहीं अर्थात् शाखया कपिसंयोगी भी वृक्ष मूलेन कपिसं-योगिभिन्न है। इस ढंग का भेद अव्याप्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद कहा जाता है, यतः कपिसंयोगिभेद की प्रतियोगिता कपिसंयोगी में है और वह कपिसंयोगरूप अव्याप्यवृत्ति धर्म से अवच्छिन्न है क्योंकि कपिसंयोगी-रूप प्रतियोगी में विशेषण होने से कपिसंयोग उसमें रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक है।

प्रतियोगिता—घट का अभाव, पट का अभाव, इस प्रकार अभाव के साथ घट, पट आदि के सम्बन्ध का व्यवहार होता है, अतः अभाव के साथ घट आदि का कोई न कोई सम्बन्ध मानना पड़ता है। तो अभाव के साथ घट आदि का जो सम्बन्ध मानना पड़ता है उसीका नाम प्रतियोगिता है।

अवच्छेदक—घट के अभाव की प्रतियोगिता सब घटों में रहती है और घट से भिन्न में नहीं रहती है। अतः उस प्रतियोगिता का कोई न कोई नियामक अवश्य माना जाना चाहिये। यदि कोई उसका नियामक न होगा तो उसका उस प्रकार का नियमित अवस्थान नहीं बन सकता। इसलिये घटत्व को

घटाभाव की प्रतियोगिता का नियन्ता माना जाता है। फलतः घटत्व से नियमित होने वाली घटाभाव की प्रतियोगिता घटत्व के सभी आश्रयों में रहती है और घटत्व से शून्य आश्रयों में नहीं रहती। इस प्रकार प्रकृत में प्रतियोगिता से न्यून तथा अधिक स्थान में न रहने वाले उसके नियामक धर्म का नाम अवच्छेदक है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव—जिस अभाव की प्रतियोगिता अपने अवच्छेक धर्म के साथ नहीं रहती अर्थात् जिस अभाव की प्रतियोगिता अपने आश्रय में न रहनेवाले धर्म से अवच्छिन्न होती है उस अभाव को व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव कहा जाता है। जैसे "घटत्वेन पटाभाव" व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव है क्योंकि उसकी प्रतियोगिता अपने आश्रय पट में न रहने वाले घटत्वधर्म से अवच्छिन्न है।

इस अभाव की कल्पना सर्वप्रथम सोन्दड़नामक नैयायिक ने की थी और प्रतियोगितावच्छेदक से विशिष्ट प्रतियोगी के साथ अभाव के विरोध का नियम मानकर इस अभाव की केवलान्वयिता—सार्वत्रिकता स्थापित की थी। अर्थात् यह बताया था कि घटत्वेन पटाभाव का प्रतियोगी पट घटत्वरूप प्रतियोगितावच्छेद से विशिष्ट होकर कहीं नहीं रहता अतः कहीं भी अपने विरोधी के न रहने के कारण वह अभाव सर्वत्र रहता है। इस अभाव के विषय में विशेष विचार श्रीगङ्गेशोपाध्यायरचित "तत्त्वचिन्तामणि" के अनुमानखण्ड में व्याप्तिवाद के अन्तर्गत "व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावप्रकरण" और उसकी "माथुरी" तथा "दीधिति" टीकावों में और उस प्रकरण की "दीधिति" की "जागदीशी" एवं "गादाधरी" टीकाओं में किया गया है।

इस अभाव पर विचार करते हुए जैन विद्वानों ने इसी के समान व्यधि-करणधर्मावच्छिन्नानुयोगिताक अभाव भी माना है। जिसका वर्णन "जलत्वेन पृथिव्यां गन्धो नास्ति—जलत्वावच्छेदेन पृथिवी में गन्ध का अभाव है" "पृथिवीत्वेन जले स्नेहो नास्ति-पृथिवीत्वावच्छेदेन जल में स्नेह का अभाव है" इन रूपों में किया गया है।

विश्वं ह्यलीकमनुपाख्यमलं न बौद्ध ?
सोढु' विचारमिति जल्पसि यद्विचारात् ।
कः कीदृगेष इति पृष्ट इह त्वदीयै-
र्यद्वक्ति तद्बठर भौतविचारकल्पम् ॥ ४६ ॥

बौद्ध जगत् को अलीक—असत्, अनुपाख्य—अनिर्वचनीय और विचारा-सह—विचार करने पर उपपन्न न होने वाला, बताते हैं। किन्तु जैन जब

उनसे यह पूछते हैं कि जगत् के सम्बन्ध की उक्त मान्यतायें तुम जिस विचार के आधार पर स्वीकार करते हो वह कौन और कैसा है ? तब इस प्रश्न के उत्तर में वे जिस विचार को प्रस्तुत करते हैं वह पामरों के विचार के समान नगण्य और दोषग्रस्त प्राप्त होता है ।

श्लोक का अभिप्राय यह है कि बौद्धों ने विश्व के बारे में जो अपनी धारणायें बना रखी हैं वे किसी प्रामाणिक विचार पर आधारित न होने से अमान्य हैं । क्योंकि यदि वे अपने मतों को प्रामाणिक विचार पर आधारित मानेंगे तो उन्हें विचार तथा उसके अङ्गभूत वादी, प्रतिवादी, मध्यस्थ, विचार्य विषय, प्रमाण और विचार के लिये अपेक्षित नियम आदि की सत्ता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी । फिर इतने पदार्थों को सत् , निर्वाच्य और विचारसह मानते हुए वे जगत् को इससे विपरीत अर्थात् असत् , अनिर्वाच्य एवं विचारासह कैसे मान सकेंगे । और यदि वे अपने मतों को प्रामाणिक विचार के आश्रित न मानकर केवल अपनी मनःप्रसूत कल्पना पर ही उन्हें निर्भर करेंगे तो उनके वे विचार उसी प्रकार त्याज्य और उपहास्य होंगे जिस प्रकार मूत्रत्याग और चीत्कार करते हुये, बड़े बड़े श्वेत दांत वाले हाथी के बारे में किसी गंवार के ये विचार कि वह एक बादल है, जो बरस और गरज रहा है तथा पक्षियों से युक्त है ।

बाह्ये परस्य न च दूषणदानमात्रात्
स्वामिन् ! जयो भवति येन नयप्रमाणैः ।
प्राज्ञैः कृतैव बहुधाऽवयविप्रसिद्धि-
र्दैकसंक्रमादवतरन्ति न दूषणानि ॥ ४७ ॥

ज्ञान का विषय ज्ञान से भिन्न होता है—इस पक्ष में दोष दे देने मात्र से विज्ञानवादी को विजयलाभ नहीं हो सकता । क्योंकि विद्वानों ने नय और प्रमाण के बल बड़े विस्तार से अवयवी का साधन किया है, और अवयवी की सिद्धि उसे ज्ञान से भिन्न मानने पर ही हो सकती है । कारण कि ज्ञान निरवयव होता है और घट आदि अवयवी द्रव्य सावयव होते हैं, अतः निरवयव ज्ञान तथा सावयव घट आदि द्रव्य का परस्पर अभेद नहीं हो सकता । अन्य शास्त्रकारों ने अवयवावयविभाव में जो दोष बताये हैं वे भी अतिरिक्त अवयवी की सिद्धि में बाधक नहीं हो सकते, क्योंकि उन दोषों का संक्रमण ज्ञेय और ज्ञान के अभेदपक्ष में भी होता है । इसलिये उन दोषों का कोई न कोई समाधान दोनों वादियों को करना ही होगा ।

विज्ञानवादी ज्ञेय की ज्ञानभिन्नता का खण्डन करने के उद्देश्य से अवयवी का खण्डन करते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से अवयवी की सिद्धि होने पर ही उसके द्वारा अनुमान प्रमाण से परमाणु पर्यन्त अवयवों की सिद्धि होती है। एवं अवयवी-रूप आधार में ही प्रत्यक्षप्रमाण से गुण, कर्म, तथा जाति की सिद्धि होती है। अतः यदि अवयवी का खण्डन कर दिया जायगा तो किसी भी वस्तु की सिद्धि न होगी। क्योंकि अवयवी के अभाव में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति न होगी और प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न होने पर दूसरे सभी प्रमाण पङ्गु हो जांयगे, यतः दूसरे सारे प्रमाण प्रत्यक्ष द्वारा ही प्रवृत्त होते हैं।

ज्ञान से भिन्न वस्तु की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के उद्देश्य से अवयवी के खण्डनार्थ विज्ञानवादी जिस विचारधारा को उपस्थित करते हैं उसमें अवयवी के बारे में ये विकल्प प्राप्त होते हैं।

ज्ञान से भिन्न तथा अवयवों से उत्पन्न पृथग् द्रव्य माने जाने वाले वृक्ष आदि पदार्थ—

(१) स्थूल हैं अथवा (२) अस्थूल, (३) अन्यनिरपेक्ष हैं, अथवा (४) अन्य-सापेक्ष, (५) उत्पत्ति के पूर्व कारण में सत् हैं, अथवा (६) असत्, (७) परस्पर भिन्न हैं, अथवा (८) परस्पर अभिन्न, (९) व्यापक हैं अथवा (१०) अव्यापक ?

इनमें कोई भी पक्ष मान्य नहीं हो सकता। जैसे—

(१) वृक्ष आदि पदार्थ स्थूल हैं—यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि वृक्ष को यदि एक स्थूल द्रव्य माना जायगा तो उसमें प्रत्यक्षत्व एवं अप्रत्यक्षत्व, आवृतत्व एवं अनावृतत्व, तथा सक्रियत्व एवं निष्क्रियत्व आदि विरुद्ध धर्मों का समावेश प्रसक्त होगा। जैसे वृक्ष के किसी एक भाग पर नेत्र पड़ने पर और दूसरे भाग पर नेत्र न पड़ने पर वृक्ष को एक भाग में प्रत्यक्ष और दूसरे भाग में अप्रत्यक्ष मानना होगा। एवं किसी एक भाग पर किसी प्रकार का आवरण होने पर और अन्य भाग पर उस प्रकार का आवरण न होने पर उसे एक भाग में आवृत और अन्य भाग में अनावृत मानना होगा। इसी प्रकार उसके एक भाग में कम्प होने पर उस भाग में उसे सक्रिय और दूसरे भाग में निष्क्रिय मानना होगा।

(२) वृक्ष आदि पदार्थ अस्थूल हैं—यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि अस्थूल मानने पर स्थूल रूप से वृक्ष की प्रतीति की अनुपपत्ति तथा अस्थूल रूप से उसकी प्रतीति की आपत्ति होगी।

(३) वृक्ष आदि पदार्थ अन्यनिरपेक्ष हैं—यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन्हें यदि अन्यनिरपेक्ष माना जायगा तो आकाश के समान अनादि

मानना होगा, क्योंकि जो अन्यनिरपेक्ष होता है वह अनादि होता है, यह नियम है। वृक्ष आदि पदार्थ सादि हैं, अतः उन्हें अन्यनिरपेक्ष नहीं माना जा सकता।

(४) वृक्ष आदि पदार्थ अन्यसापेक्ष हैं—यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उन्हें अन्यसापेक्ष माना जायगा तो उन्हें सत् और असत् दोनों से भिन्न मानना होगा। यतः सत्य पदार्थ अन्यसापेक्ष नहीं होते जैसे आकाश आदि, एवं असत् पदार्थ भी अन्यसापेक्ष नहीं होते जैसे आकाशपुष्प आदि। और जब वे सत् और असत् दोनों से भिन्न हो जायगे तब वे अव्यवहार्य हो जाँयगे, क्योंकि पदार्थ सत् अथवा असत् रूप से ही व्यवहार की भूमि में अवतीर्ण होते हैं।

(५) वृक्ष आदि पदार्थ उत्पत्ति के पूर्व कारणों मे सत् होते हैं—यह बात भी ठीक नहीं है, यतः वे यदि उत्पत्ति के पूर्व भी सत् होंगे तो उनके सम्बन्ध में कारणों का व्यापार व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि कार्य को सत् बनाना अर्थात् उसे अस्तित्व में लाना ही कारणों के व्यापार का प्रयोजन है, तो फिर जब कार्य कारणों के व्यापार के पूर्व भी सत् रहेगा तो कारणों का व्यापार क्या करेगा ?

(६) वृक्ष आदि पदार्थ उत्पत्ति के पूर्व कारणों में असत् होते हैं—यह बात भी ठीक नहीं है, यतः इस पक्ष में कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कारण के साथ उसका कोई सम्बन्ध न होगा, अतः कारण को अपने से असम्बद्ध कार्य का ही उत्पादक मानना होगा, फलतः तैल-रूप कार्य जैसे तिल से असम्बद्ध है वैसे ही बालू से भी असम्बद्ध है। तिल और बालू से तैल की असम्बद्धता में कोई अन्तर नहीं है, इसलिए तैल जिस प्रकार तिल से उत्पन्न होता है उसी प्रकार बालू से भी उसके उत्पन्न होने की आपत्ति खड़ी होगी।

(७) वृक्ष आदि पदार्थ परस्पर भिन्न हैं—यह बात भी ठीक नहीं है। यतः यदि उन्हें परस्परभिन्न माना जायगा तो उनमें परस्पर-भेद की प्रतीति का प्रसङ्ग होगा। और इस प्रसंग को इष्ट नहीं माना जा सकता क्योंकि भेद का निर्वचन अशक्य है।

(८) वृक्ष, घट, पट आदि पदार्थ परस्पर-अभिन्न हैं—यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन्हें परस्पर अभिन्न मानने पर उनमें परस्पर अभिन्नता की प्रतीति की तथा एक से दूसरे के कार्य की सम्पन्नता की आपत्ति खड़ी होगी।

(९) वृक्ष आदि पदार्थ व्यापक अर्थात् सार्वत्रिक हैं—यह बात भी ठीक नहीं है, यतः यदि उन्हें सार्वत्रिक माना जायगा तो वे आकाश के समान निष्क्रिय होंगे और उस दशा में उनके आदान-प्रदान आदि व्यवहार का लोप हो जायगा।

(१०) वृक्ष आदि पदार्थ अव्यापक— असार्वत्रिक हैं— यह बात भी ठीक नहीं है, यतः वे व्यापक तभी होंगे जब स्थान विशेष में असत् होंगे। और जब वे एक स्थान में असत्स्वभाव हो जाँयगे तब वे दूसरे स्थान में भी सत् न हो सकेंगे, क्योंकि स्थानभेद से स्वभावभेद नहीं होता। अन्यथा शङ्ख एक स्थान में श्वेत और अन्य स्थान में पीत, एवं काक एक स्थान में श्याम और स्थानान्तर में श्वेत होता।

विज्ञानवादी की इस विचारधारा पर नैयायिकों का कथन यह है कि इस विचारधारा में अवयवी के विरोध में जिन तर्कों का आलम्बन किया गया है वे सब तर्काभास हैं, अतः उनसे अवयवी की सिद्धि में कोई बाधा नहीं हो सकती। वे तर्काभास इसलिये हैं कि उनमें से किसी में मिथोविरोध, किसी में मूलशैथिल्य, किसी में इष्टापत्ति, किसी में खण्डनीय पक्ष की अनुकूलता और किसी में विपर्ययानुमान की अनुपपत्ति है, जैसे—

पहले और दूसरे तर्क में मिथोविरोध अर्थात् एक तर्क से सिद्ध किये जाने वाले अर्थ का दूसरे तर्क से व्याघात होता है, क्योंकि पहले तर्क से सिद्ध करना है स्थूलत्व का निषेध, तथा दूसरे तर्क से सिद्ध करना है अस्थूलत्व का निषेध, स्थूलत्वनिषेध, तथा अस्थूलत्वनिषेध परस्पर विरुद्ध हैं, अतः एक से दूसरे का व्याघात अनिवार्य है। दूसरे तर्क में अनुकूलता दोष भी है, कारण कि दूसरे तर्क का आलम्बन अस्थूलत्वनिषेध अर्थात् स्थूलत्व की सिद्धि के लिये किया जाता है और स्थूलत्व अवयवावयविभाव के अनुकूल है।

तीसरे तर्क में अनुकूलता दोष है क्योंकि इस तर्क से विपरीतानुमानद्वारा अन्यसापेक्षता सिद्ध की जाती है और यह अन्यसापेक्षता अवयवी की सिद्धि के अनुकूल है।

चौथे तर्क में व्यापकाप्रसिद्धि अर्थात् आपाद्याप्रसिद्धि होने के कारण मूल-शैथिल्य है, क्योंकि सत् और असत् दोनों का भेद एकत्र रह नहीं सकता अतः आपादक में आपाद्य की व्याप्ति का निश्चय जो तर्क का मूल है, उसकी अनुप-पत्ति हो जाती है।

पाँचवें तथा छठें तर्क में मिथोविरोध दोष है, क्योंकि पाँचवाँ तर्क उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता का साधन करता है तथा छठां तर्क उत्पत्ति के पूर्व कार्य की असत्ता का साधन करता है और इन दोनों में परस्पर विरोध है।

सातवाँ तर्क अवयवी की सिद्धि के अनुकूल है क्योंकि इस तर्क से विपर्यया-नुमान के द्वारा जिन पदार्थों में परस्पर भेद सिद्ध किया जाता है उनका परस्परभेद अतिरिक्त अवयवी की सत्ता का समर्थन करने वालों को मान्य है।

आठवें तर्क में इष्टापत्ति दोष है, क्योंकि यह तर्क परस्परभिन्नता से परस्पर-भिन्नता की प्रतीति का आपादन करता है और यह प्रतीति अतिरिक्त अवयवी मानने वालों को इष्ट है। इस तर्क के प्रसंग में भेदके निर्वचन की जो अशक्यता बतायी गई थी, वह ठीक नहीं है, क्योंकि भेदत्व को एक अखण्ड अनुगत धर्म मान कर भेद का निर्वचन किया जा सकता है।

नवें तक में अनुकूलता दोष है, कारण कि इस तर्क से विपरीतानुमान के द्वारा अव्यापकत्व का साधन होता है और यह अव्यापकत्व अतिरिक्त अवयवी के अङ्गीकारपक्ष में इष्ट है।

दशवें तर्क में मूलशैथिल्य अर्थात् अपेक्षित व्याप्ति का भङ्ग दोष है। कारण कि इस तर्क से एक स्थान में असत्व के द्वारा अविधेयत्व अर्थात् सर्वत्र असत्त्व का आपादान किया गया है किन्तु यह युक्त नहीं है, क्यों कि जो एक स्थान में असत् होता है वह सर्वत्र असत् होता है, इस प्रकार की व्याप्ति में कोई प्रमाण नहीं है।

इस तर्क का उपपादन करते हुये जो यह बात कही गई है कि स्थानभेद से स्वभावभेद नहीं होता वह ठीक है, पर प्रकृत में उसका कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि नैयायिक असत्त्व को अवयवी का क्या, किसी भी भाव का स्वभाव नहीं मानते। हाँ, अवयवी का किसी स्थानविशेष में असत्त्व अवश्य होता है, पर उससे उसके सर्वत्र असत्त्व का आपादन वा साधन नहीं हो सकता क्योंकि किसी एक स्थानविशेष में न रहने वाली वस्तु भी स्थानान्तर में रह सकती है।

ज्ञानाग्रहावृतिनिरावृतिसप्रकम्पा-
कम्पत्वरक्तिमविपर्ययतन्निदानैः।
तद्देशतेतरसभागविभागवृत्ती
चित्रेतरैरवयवी न हि तत्त्वतोऽन्यः ॥ ४८ ॥

ज्ञानाग्रह—ज्ञान और अग्रह अर्थात् दर्शन तथा अदर्शन, आवृतिनिरावृति—आवरण तथा अनावरण, सप्रकम्पाकम्पत्व-कम्पन और अकम्पन अर्थात् सक्रियत्व तथा निष्क्रियत्व, रक्तिमविपर्यय—रक्तत्व और उसका विपर्यय अर्थात् अरक्तत्व, तन्निदान—रक्तत्व और अरक्तत्व के निमित्त अर्थात् रक्तद्रव्य का संयोग तथा रक्तद्रव्य का असंयोग, तद्देशतेतर–तद्देशत्व और अतद्देशत्व अर्थात् तद्देशस्थिति तथा अतद्देशस्थिति, सभागविभागवृत्ति—किसी अंशविशेष से रहना या अंशनिरपेक्ष होकर समस्त रूप से रहना, चित्रेतर—चित्ररूप तथा चित्रेतर रूप, इन विरुद्ध धर्मों के समावेश से अवयवी की जो अनेकात्मकता प्रतीत होती है वह तात्त्विक नहीं किन्तु अतात्त्विक है, क्योंकि उक्त विरुद्ध

धर्मों का सम्बन्ध विभिन्न अवयवों में होता है न कि अवयवी में, अवयवी में तो उनका आरोपमात्र होता है। फलतः अवयवों से भिन्न एक अवयवी की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि अतात्त्विक अनेकता तात्त्विक एकता का विरोध नहीं कर सकती।

उपर्युक्त श्लोक में चर्चित बातों का संक्षिप्त स्पष्टीकरण इस प्रकार हो सकता है। जैसे ज्ञान और अज्ञान के एक विषय में समावेश के बारे में यह कहा जा सकता है कि जिस वस्तु का दर्शन जिस पुरुष को जिस देश, काल में होता है उस देश, काल में उस पुरुष को उस वस्तु का अदर्शन नहीं होता, क्यों कि एक पुरुष को एक देश, काल में एक वस्तु के दर्शन और अदर्शन दोनों का स्वीकार अनुभव तथा मान्यता के विरुद्ध है। और जब तक उक्त प्रकार के परस्पर विरोधी दर्शन और अदर्शन का अवयवी द्रव्य में समावेश नहीं प्रसक्त होता तब तक उनके द्वारा उसमें अनेकात्मकत्व की सम्भावना नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि एक अवयव के साथ जिस द्रव्य का दर्शन जिस पुरुष को जिस देश, काल में होता है उस देश, काल में उस पुरुष को अवयवान्तर के साथ उसी अवयवी द्रव्य का अदर्शन भी होता है, इस प्रकार अवयवी द्रव्य में परस्परविरोधी दर्शन और अदर्शन की प्रसक्ति उसकी एकद्रव्यता का बाधक होकर उसके अनेकत्व को सुघट करेगी, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि थोड़े विवेक से उक्त बात की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कथित दर्शन और अदर्शन का सम्बन्ध विभिन्न अवयवों के साथ है न कि अवयवी के साथ, यतः यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि विशिष्ट में व्यवहृत होने वाले विधि और निषेध विशेष्य में घटित न होने पर विशेषणगामी हो जाते हैं, अतः जैसे शिखायुक्त मनुष्य में व्यवहृत होने वाले विनाश को मनुष्य में अघटित तथा शिखा में घटित होने की दशा में मनुष्यगामी न मान कर केवल शिखागामी माना जाता है वैसे ही भिन्न भिन्न अवयवों के साथ एक अवयवी में व्यवहृत होने वाले उक्त दर्शन और अदर्शन को भी अवयवी में घटित न होने के कारण भिन्न भिन्न अवयवगामी मानना ही न्यायसंगत है, अतः अवयवों के दर्शन तथा अदर्शन का अवयवी में आरोप कर उसके अस्तित्व पर प्रहार करने का प्रयास नितान्त असंगत है।

आवरण और अनावरण के सम्बन्ध से भी अवयवी का पृथक् अस्तित्व संकटाकीर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि जिस वस्तु का जिस देश, काल, में जिस पुरुष के प्रति आवरण होता है उस पुरुष के प्रति उस देश, काल में उस वस्तु का अनावरण असिद्ध है, अतः जहां कहीं अवयवी के आवरण और अना-

वरण एक साथ प्रतीत होते हैं वहां वे अवयवी-गामी न होकर अवयवगामी होते हैं और अवयव के विरोधी धर्म में अवयवी के एकत्व को कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि एक आध अवयव के आवरण की दशा में भी अवयवी का अनावरण ही रहता है तब समस्त अवयवों के अनावरण के समय अवयवी में जितनी स्थूलता दिखती है उतनी ही एक आध अवयव के आवरण के समय भी दिखनी चाहिये क्योंकि अवयवी का अनावरण दोनों दशा में समान है। तो इसका उत्तर यह है कि अवयवी और स्थूलता ये दोनों वस्तुयें भिन्न हैं और उनके दर्शन की सामग्री भी भिन्न है। फलतः एक आध अवयव के आवरण काल में अवयवी के दर्शन की सामग्री तो रहती है, पर उसकी वह स्थूलता, जो समस्त अवयवों के अनावरण काल में दिखती है, उसके दर्शन की सामग्री नहीं रहती। अतः एक आध अवयव के आवरण काल में अवयवी का दर्शन होने पर उसकी स्थूलता का दर्शन नहीं होता।

सक्रियत्व और निष्क्रियत्व के द्वारा भी अवयवी के एकत्व का खण्डन नहीं हो सकता, क्योंकि जिस समय अवयवी के किसी अवयव में क्रिया होती है उस समय अवयवी क्रियाहीन ही होता है, अतः अवयवी में किसी भी दशा में क्रिया और उसके अभाव का समावेश प्रसक्त ही नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि अवयव की सक्रियता के समय अवयवी को सक्रिय मानना आवश्यक है क्योंकि अवयव को सक्रिय बनाने वाली सामग्री अवयवी को भी सक्रिय बनाती है, यह नियम है। अन्यथा समस्त अवयवों की सक्रियता के समय भी अवयवी में निष्क्रियत्व के सम्भव होने से उस समय निष्क्रिय अवयवी के दर्शन की आपत्ति होगी। तो यह कथन भी ठीक नहीं है, कारण कि अत्यन्त छोटे अवयव की सक्रियता के समय अवयवी में सक्रियता का दर्शन न होने के कारण अवयव को सक्रिय बनाने वाली सामग्री तथा अवयवी को सक्रिय बनाने वाली सामग्री को परस्पर भिन्न मानना आवश्यक है, फलतः यह नियम नहीं बन सकता कि जब किसी अवयवी का कोई अवयव सक्रिय हो तब अवयवी को भी सक्रिय होना ही चाहिये। हाँ, समस्त अवयवों को सक्रिय बनाने वाली सामग्री के समय अवयवी को सक्रिय बनाने वाली सामग्री का भी सन्निधान निरपवाद रूप से होता ही है, अतः उस समय अवयवी के नियमेन सक्रिय हो जाने से उसमें निष्क्रियता के दर्शन की आपत्ति नहीं हो सकती।

रक्तत्व और अरक्तत्व के समावेश से भी अवयवी के एकत्व की हानि नहीं हो सकती क्योंकि किसी अवयवी के कुछ भाग के साथ रक्त द्रव्य का

संयोग होने पर अवयवी में रक्तत्व का सम्बन्ध नहीं माना जाता किन्तु रक्तत्व का भ्रममात्र माना जाता है, फलतः अवयवी में रक्तत्व और अरक्तत्व का समावेश प्रसक्त ही नहीं है।

संयोग और असंयोग के समावेश से भी अवयवी के एकत्व की क्षति नहीं हो सकती, क्योंकि जिस समय अवयवी में वा उस के कुछ भाग में रक्तत्व का भ्रम होता है उस समय अवयवी में यद्यपि रक्तद्रव्य के संयोग और असंयोग दोनों का समावेश होता है तथापि उससे भेद का साधन नहीं किया जा सकता, कारण कि उक्त संयोग और असंयोग अवयवी में अंशभेद से अव्याप्यवृत्ति होकर रहते हैं और अव्याप्यवृत्ति संयोग तथा असंयोग में भेद की व्याप्ति नहीं है अर्थात् उस वस्तु से संयुक्त द्रव्य उस वस्तु से असंयुक्त द्रव्य से भिन्न होता है वा उस वस्तु से असंयुक्त द्रव्य उस वस्तु से संयुक्त द्रव्य से भिन्न होता है, यह नियम नहीं है। अतः संयोग और असंयोग के आंशिक समावेश से उस अवयवी में उसी अवयवी के भेद का साधन नहीं किया जा सकता।

वृत्ति के सम्भावित प्रकारों की अनुपपत्ति से भी अवयवी के अस्तित्व का लोप नहीं हो सकता क्यों कि वृत्ति के समस्त प्रकारों की अनुपपत्ति है ही नहीं। यदि यह कहा जाय कि अवयवों में अवयवी के रहने के दो ही प्रकार हो सकते हैं, जैसे अवयवों में अवयवी का किसी अंशविशेष से रहना अथवा समस्त रूप से रहना। पर ये दोनों ही प्रकार संगत नहीं हैं, क्यों कि उस अवयव में उसी अवयव के द्वारा अवयवी का अस्तित्व यदि माना जायगा तो उस अवयव में उस अवयव की भी स्थिति माननी पड़ेगी जो आत्माश्रय दोष के कारण स्वीकार्य नहीं है। इस दोष के परिहारार्थ यदि किसी अन्य नवीन अवयव द्वारा अवयवी का अस्तित्व माना जायगा तो यह तभी सम्भव होगा जब उस नवीन अवयव में भी अवयवी का अस्तित्व माना जाय, और यह यदि पूर्व अवयव द्वारा माना जायगा तो पूर्व अवयव में नवीन अवयव और नवीन अवयव में पूर्व अवयव का अस्तित्व मानने से अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि इस दोष को भी दूर करने के उद्देश्य से किसी और अन्य नवीन अवयव की कल्पना की जायगी तो चक्रक तथा उससे अधिक और नवीन अवयव की कल्पना करने पर अनवस्था दोष होगा। यदि इन दोषों के कारण नवीन अवयव की कल्पना त्याग कर क्लृप्त अवयवों में से ही एक दूसरे को एक दूसरे में अवयवी के अस्तित्व का द्वार माना जायगा तो भी अवयवों को परस्पराश्रित मानने के कारण अन्योन्याश्रय दोष होगा, अतः अवयवों में अवयवी का अंशतः अवस्थान मान्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार अवयवों में अवयवी का समस्त रूप से भी अस्तित्व

नहीं माना जा सकता, क्यों कि ऐसा मानने पर एक ही अवयव में पूरे अवयवी की समाप्ति हो जायगी, फिर दूसरे अवयव में रहने को अवयवी का कुछ शेष न रह जायगा, फलतः अनेक अवयवों का अस्तित्व असम्भव हो जायगा । तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अस्तित्व के उक्त प्रकार समुदायात्मक पदार्थ में ही सम्भव होते हैं, अवयवी तो समुदायात्मक नहीं है किन्तु एक पृथक् द्रव्य है, अतः उसके सम्बन्ध में अंशतः अथवा सर्वांशतः रहने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता । इस पर यदि यह प्रश्न किया जाय कि अच्छा बताइये तो फिर अवयवों में अवयवी किस प्रकार रहता है तो इसका उत्तर यही है कि वह अपने समस्त अवयवों में स्वरूपतः व्यासज्यवृत्ति होकर रहता है, अर्थात् अवयवी अपने प्रत्येक अवयव में पूर्णतया रहता है फिर भी उसी में समाप्त नहीं हो जाता, किन्तु उसकी समाप्ति समस्त अवयवों में ही होती है ।

तद्देशत्व और अतद्देशत्व के सम्बन्ध से भी अवयवी के नानात्व का साधन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अतद्देशत्व का अर्थ यदि तद्देश से भिन्न देश में आश्रित होना लिया जायगा तो उसका तद्देशत्व के साथ विरोध नहीं होगा, क्यों कि एक वस्तु का परस्पर भिन्न दो देशों में आश्रित होना अनेकशः दृष्ट है, अतः परमाणुपुञ्ज से अतिरिक्त अवयवी के अस्वीकार पक्ष में जैसे एक परमाणु में अनेक परमाणुवों का सहसम्बन्ध माना जाता है वैसे अतिरिक्त अवयवी के स्वीकार पक्ष में भी एक अवयवी में अनेक अवयवों का सहसम्बन्ध माना जा सकता है । और यदि अतद्देशत्व का अर्थ तद्देश में आश्रित न होना लिया जायगा तो भी तद्देशत्व–तद्देश में आश्रित होने, के साथ उसका विरोध नहीं होगा, क्यों कि एक वस्तु का एक ही देश में आश्रित होना तथा आश्रित न होना, ये दोनों बातें काल भेद से सुघट हो सकती हैं ।

चित्र और चित्रेतर इन परस्पर विरोधी रूपों के समावेश से भी अवयवी के एकत्व का निराकरण नहीं हो सकता, क्यों कि चित्र अवयवी में चित्रेतर रूप रहता ही नहीं अपितु उसमें चित्र नामक एक ही रूप व्यापकरूपेण रहता है और वह नील, पीत आदि रूपों से विजातीय है । कहने का तात्पर्य यह है कि चित्र प्रतीत होने वाले अवयवी की एकता का भङ्ग तब होता जब चित्र जाति का एक अतिरिक्तरूप न माना जाता किन्तु नील, पीत आदि अनेक रूपों की समष्टि को ही चित्र रूप माना जाता, क्यों कि उस स्थिति में यही कहना पड़ता कि चित्र प्रतीत होने वाला अवयवी एक व्यक्ति नहीं है किन्तु अनेक व्यक्तियों का समुदाय है अतः उसे एक व्यक्ति मानने पर उसमें नील, पीत आदि अनेक रूपों के समुदायस्वरूप चित्र रूप का अवस्थान नहीं हो सकता । यदि

यह कहा जाय कि नील पीत आदि रूपों की समष्टि अपने आश्रय में चित्र प्रतीति का उत्पादन नहीं करती किन्तु अपने विभिन्न आश्रयों द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले द्रव्य में उसका उत्पादन करती है। अतः प्रतीत होने वाले अवयवी में कोई रूप नहीं रहता, अवयवों के नील पीत आदि रूपों द्वारा उसमें चित्र रूप की प्रतीति होती है, तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि नील, पीत आदि रूप वाले अवयवों से उत्पन्न होने वाला अवयवी यदि नीरूप होगा तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा यतः द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने के लिये उसका रूपवान् होना आवश्यक होता है। यदि यह कहा जाय कि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिये द्रव्य का रूपवान् होना आवश्यक नहीं है किन्तु रूपवान् द्रव्य में आश्रित होना आवश्यक है, अतः चित्र प्रतीत होने वाला अवयवी नीरूप होने पर भी रूपवान् अवयवों में आश्रित होने के कारण चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय हो जायगा, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि नील, पीत आदि एकमात्र रूपवाले द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूपवान् में आश्रित होने को प्रयोजक मानने में गौरव है और रूप को प्रयोजक मानने में लाघव है, अतः सर्वत्र रूप को ही द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष का प्रयोजक मानना उचित है। फलतः चित्र प्रतीत होने वाला अवयवी यदि नीरूप माना जायगा तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो सकेगा। इसलिये इसी सिद्धान्त को मान्यता देनी होगी कि नील, पीत आदि अनेक रूपवाले अवयवों से उत्पन्न होने वाले अवयवी में चित्र जाति का एक अतिरिक्त रूप उत्पन्न होता है और वही पूरे अवयवी में व्याप्त होकर रहता है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है यदि चित्र रूप पूरे अवयवी में व्याप्त होकर रहता है तो उसके नील, पीत आदि एक भाग मात्र में चित्र रूप का दर्शन क्यों नहीं होता, तो इसका उत्तर यह है कि अवयवी में चित्र रूप के दर्शन के लिये अवयवों में नील, पीत आदि अनेक रूपों का दर्शन अपेक्षित होता है, अतः जिस समय किसी चित्र अवयवी के किसी एक ही भाग के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है उस समय अवयवों में अनेक रूपों के दर्शन रूप कारण का अभाव होने से चित्र रूप के दर्शन की आपत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि नील, पीत आदि अनेक रूप वाले अवयवों से उत्पन्न होने वाले अवयवी में नील, पीत आदि अनेक रूप उत्पन्न होते हैं पर वे सब पूरे अवयवी में व्याप्त होकर नहीं रहते किन्तु उसके विभिन्न भागों में रहते हैं, इसलिये अवयवी के पूरे कलेवर में नील, पीत आदि प्रत्येक रूप का दर्शन नहीं होता, इस प्रकार एक व्यक्ति में अव्याप्त होकर रहने वाले नील पीत आदि अनेक रूपों की समष्टि का ही नाम चित्र है न कि चित्र जाति का कोई अतिरिक्त रूप है। तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि नील, पीत आदि गुण

चित्र से भिन्न अनन्त द्रव्यों में व्याप्त होकर ही रहते हैं अतः वे चित्र कहे जाने वाले द्रव्य में भी अव्याप्त होकर नहीं रह सकते, यतः यह नियम है कि जिस जाति के गुण अपने अभावस्थल को छोड़ कर ही रहते आये हैं उस जाति का कोई गुण कभी भी अपने किसी अभावस्थल में नहीं रहता। इस नियम की किसी भी स्थिति में उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि इसकी उपेक्षा की जायगी तो जातीयता के आधार पर विरोध और अविरोध की लोकसम्मत व्यवस्था का भङ्ग हो जायगा अर्थात् वस्तु का उसके अभाव के साथ व्यक्तिगत विरोध तो उपपन्न हो जायगा पर जातीय स्तर पर उसकी उपपत्ति न हो सकेगी।

यदि यह कहा जाय कि अतिरिक्त चित्र रूप की सत्ता स्वीकार कर लेने पर भी चित्र अवयवी में अव्याप्त भाव से नील आदि रूपों की भी उत्पत्ति माननी ही पड़ेगी, क्योंकि अवयव में जिस जाति का रूप होता है अवयवी में उस जाति के रूप की उत्पत्ति का नियम है। तो यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त युक्ति से नील आदि गुणों को अव्याप्यवृत्ति नहीं माना जा सकता अर्थात् एक द्रव्य के एक भाग में उनके अभाव का अस्तित्व नहीं माना जा सकता, अतः चित्र अवयवी में नील आदि गुणों की उत्पत्ति को रोकने के लिये यह मानना होगा कि अवयवी में नीलादि जातीय रूप की उत्पत्ति में अवयव गत अन्य जातीय रूप प्रतिबन्धक होता है, फलतः अवयव के रूप का सजातीय रूप उसी अवयवी में उत्पन्न होगा जो किसी एक जाति के ही रूपवाले अवयवों से उत्पन्न होगा और जो अवयवी विभिन्न जातीय रूप वाले अवयवों से उत्पन्न होगा उसमें अवयवगत रूप से विजातीय चित्र रूप ही उत्पन्न होगा।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों के एकत्र समावेश की सम्भावना पर उक्त रीति से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अवयवी कहे जाने वाले द्रव्य में परस्पर विरोधी धर्मों का ऐसा कोई समावेश नहीं प्रमाणित होता जिससे उसकी एकद्रव्यता में कोई बाधा हो, अतः यह अभ्रान्त रूप से स्वीकार किसी जा सकता है कि अवयवी एकदेशस्थ अवयवों के समुदाय मात्र से गतार्थ हो सकता किन्तु अवयवों से भिन्न उसका अपना मौलिक अस्तित्व भी है।

दृष्टो ह्यदृष्ट इति को निरपेक्षमाह
देशावृतौ स्फुटमनावृत एव देशी।
देशे चलत्यपि चलत्वमसौ न धत्ते
देशभ्रमादवयवी भ्रमभाजनं नो॥ ४९॥

जो वस्तु दर्शन का विषय है वह निरपेक्ष रूप से दर्शन का अविषय है, यह बात कौन कहता है ? अर्थात् यह किसी का भी मत नहीं हो सकता कि एक वस्तु एक ही अपेक्षा से अर्थात् एक ही दृष्टि से दर्शन का विषय भी हो सकती है और दर्शन का अविषय भी हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि परस्पर विरूद्ध प्रतीत होने वाले भावाभावात्मक धर्मों का एक वस्तु में समावेश किसी एक दृष्टि से नहीं हो सकता है किन्तु दृष्टिभेद से ही हो सकता है। देश-अंश का आवरण होने पर देशी-अंशी स्पष्टरूपेण अनावृत ही रहता है, अर्थात् जिस समय किसी अंशी का कोई एक अंश आवृत होता है उस समय वह अंशी स्वयम् अनावृत ही रहता है, फलतः आवरण और अनावरण का किसी एक वस्तु में युगपत् समावेश नहीं होता। इसी प्रकार देश-अंश के गतिमान् होने पर भी देशी-अंशी गतिमान् नहीं होता और देश-अंश में भ्रमण उत्पन्न होने पर भी देशी-अंशी भ्रमणहीन रहता है, अर्थात् जिस समय किसी अंशी का कोई एक अंश गतिशील हो उठता है अथवा घूमने लगता है उस समय भी वह अंशी स्वयं न गतिशील होता है और न घूमता ही है किन्तु निश्चल और स्थिर रहता है, फलतः गति एवं गतिराहित्य जैसे विरुद्ध धर्मों का समावेश एक वस्तु में नहीं होता।

संयोगतद्विरहयोश्च गतिः प्रकार-
भेदेन तन्निलयतातदभावयोश्च ।
वृत्तिः स्वरूपनिरतैव च चित्रमेक-
मित्यादि ते नयमतं समयाब्धिफेनः ॥ ५० ॥

एक वस्तु में संयोग और संयोगाभाव तथा तद्देशाश्रितत्व और तद्देशानाश्रितत्व की उपपत्ति प्रकार-भेद से अर्थात् अवच्छेदकभेद से हो जाती है, जैसे उसी वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग और मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव अथवा शाखाद्यवच्छेदेन संयोग और वृक्षत्वावच्छेदेन संयोगसामान्याभाव रहता है, एवं एक ही वस्तु उसी देश में एक काल में आश्रित और कालान्तर में अनाश्रित होती है अर्थात् उसी वस्तु में एककालावच्छेदेन तद्देशाश्रितत्व और अन्यकालावच्छेदेन तद्देशानाश्रित्व रहता है। अवयवों में अवयवी का अवस्थान स्वरूपनिरत है अर्थात् अवयवी अपने अवयवों में न तो एकदेशेन रहता है और न समग्रदेशेन रहता है। किन्तु अपने निजी स्वरूप से व्यासज्यवृत्ति होकर रहता है। चित्र रूप अनेक रूपों की समष्टि नहीं है किन्तु एक स्वतन्त्र रूप है। न्यायशास्त्र के ये मत, हे भगवन् ! आपके सिद्धान्तसमुद्र के फेन के समान हैं, क्यों कि जिस प्रकार फेन जलराशि के ऊपर उसी का रूप-रंग धारण किये तैरता हुआ

दिखाई पड़ता है और वायु का आघात पाकर उसी में विलीन हो जाता है, जलराशि से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं रह जाता, उसी प्रकार न्यायशास्त्र के मत स्याद्वादसिद्धान्त के ऊपर उसकी हो जैसी मनोरमता धारण किये दृष्टिगोचर होते हैं और अन्त में अनेकान्तवादरूपी वायु से आहत हो उसी में समा जाते हैं, उनका निरपेक्ष प्रामाण्य नहीं रह जाता।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि अवयवी के विरुद्ध विभिन्नवादियों से उठाये जाने वाले प्रश्नों, आक्षेपों और सन्देहों का निराकरण न्यायशास्त्र की जिन युक्तियों से किया जाता है उनका बलसंवर्धन तथा अनुप्राणन स्याद्वाद की ओर से उन युक्तियों का विनियोग किया जाना न्याय्य है। और वस्तुस्थिति तो यह है कि स्याद्वाद की सरणि से ही उनका उपयोग सफल भी हो सकता है क्योंकि स्याद्वाद के अनुग्रह से वञ्चित होने पर समस्त मत एकान्तवादी हो जाने से निर्बल, निस्सार और इसीलिए अभिमत पक्ष के साधन एवं समर्थन में अक्षम हो जाते हैं।

नाणोरपि प्रतिहतिश्च समानयोग-
क्षेमत्वतः किल धियेति न बाह्यभङ्गः।
योग्या च नास्ति नियतानुपलब्धिरुच्चै-
नैरात्म्यमित्युपहतं नयवल्गितैस्ते ॥ ५१ ॥

ज्ञान की सत्ता मानकर जिस प्रकार अवयवी का निराकरण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार मूल अवयव परमाणु का भी निराकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि ज्ञान और परमाणु के योग-क्षेम समान हैं। अर्थात् जो आपत्तियां वा अनुपपत्तियां परमाणुपक्ष में उठती हैं उस ढंग की आपत्तियां और अनुपपत्तियां ज्ञानपक्ष में भी उठ सकती हैं तथा ज्ञानपक्ष में उन्हें दूर करने के लिये जिन युक्तियों को अपनाया जा सकता है वे युक्तियां परमाणुपक्ष में भी अपनायी जा सकती हैं। फलतः बाह्य अर्थ का अर्थात् ज्ञान से भिन्न वस्तु का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता। नियत अनुपलम्भ के बल से भी बाह्य अर्थ का अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता क्योंकि जो बाह्य अर्थ योग्य अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण किये जाने योग्य हैं, जैसे घट, पट आदि उनका यथासमय, उपलम्भ होते रहने के कारण उनका तो नियत अनुपलम्भ होता ही नहीं, हां, जो बाह्य अर्थ अयोग्य हैं अर्थात् जिनमें प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण किये जाने की योग्यता ही नहीं है जैसे परमाणु आदि, उनके उपलम्भ की कभी भी सम्भावना न होने के कारण उनका नियत अनुपलम्भ अवश्य होता है, पर उससे उनका अभाव नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि जैसे घट, पट आदि वस्तुओं के अस्तित्व का लोप हो

जाने के भय से अनियत अनुपलम्भ को अभाव का ग्राहक न मान कर नियत अनुपलम्भ को ही अभाव का ग्राहक माना जाता है वैसे अतीन्द्रिय वस्तु मात्र के अस्तित्व का लोप हो जाने के भय से अयोग्य अनुपलम्भ को अभाव का ग्राहक न मान कर योग्य अनुपलम्भ को ही अभाव का ग्राहक माना जाता है। फलतः परमाणु का अनुपलम्भ योग्य अनुपलम्भ रूप न होने के कारण परमाणु के अभाव का साधक नहीं हो सकता।

परपक्ष को दोषयुक्त ठहराने के दृढ़ अभिनिवेश से न्यायशास्त्र की उपर्युक्त युक्तियों का अवलम्बन कर वाह्यार्थभङ्गमूलक अनात्मवाद के खण्डन का जो यह प्रकार है, हे भगवन् महावीर ! वह आप के ही न्यायामृतमहोदधि के बिन्दु का उद्गार है।

इस विषय में विज्ञानवादी योगाचार तथा बाह्यार्थवादी नैयायिक की विमर्शपद्धति निम्न प्रकार है।

विज्ञानवादी का कहना यह है कि परमाणुवों का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि यदि उनका अस्तित्व माना जायगा तो उनकी दो ही स्थितियाँ हो सकती हैं। एक तो यह कि उन्हें परस्पर में असम्बद्ध माना जाय और दूसरी यह कि उन्हें परस्परसम्बद्ध माना जाय। पर ये दोनों ही बातें सम्भव नहीं है, क्योंकि परमाणुओं को यदि परस्पर में असम्बद्ध माना जायगा तो भिन्न-भिन्न स्थानों मे बिखरे हुये परमाणुओं को जैसे न तो घट, पट आदि संज्ञायें ही प्राप्त होतीं और न उनसे जलाहरण तथा शरीराच्छादन आदि कार्य ही होते वैसे ही एक स्थान में इकट्ठे हुये परमाणुओं को भी न वे संज्ञायें ही प्राप्त होंगी और न उनसे वे कार्य ही हो सकेंगे। इस त्रुटि के निवारणार्थ यदि उन्हें परस्पर में सम्बद्ध माना जायगा तो यह प्रश्न उठेगा कि एक परमाणु का दूसरे परमाणुओं से जो सम्बन्ध होगा वह अंशतः होगा अथवा पूर्णरूपेण अर्थात् सर्वात्मना होगा ? अंशतः सम्बन्ध मानना सम्भव नहीं है क्योंकि परमाणु में कोई अंश नहीं होता। सर्वात्मना सम्बन्ध मानना भी सम्भव नहीं है क्योंकि सर्वात्मना सम्बन्ध मानने पर एक परमाणु का अनेक परमाणुओं के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता, कारण कि इस पक्ष में जब किसी एक परमाणु का दूसरे किसी एक परमाणु से सम्बन्ध होगा तब वह उस एक ही परमाणु में सर्वात्मना समा जायगा। फलतः अन्य परमाणुओं से सम्बन्ध होने के लिये उसका कुछ शेष ही न रह जायगा। और इस प्रकार जब परमाणुओं का एक दूसरे से सम्बन्ध ही न हो सकेगा तो उनकी कल्पना का कोई अर्थ ही न होगा।

इस पर बाह्यार्थवादी का कथन यह है कि परमाणु के सम्बन्ध में जो उपर्युक्त शङ्कायें उपस्थित की गयी हैं वे विज्ञानवाद में भी उपस्थित हो सकती हैं। जैसे स्वतन्त्र रूप से अनेक वस्तुओं को ग्रहण करने वाले समूहालम्बन ज्ञान के विषय में यह प्रश्न हो सकता है कि उक्त प्रकार का ज्ञान अनेक वस्तुओं को अंशतः ग्रहण करता है अथवा पूर्णरूपेण अर्थात् सर्वात्मना ग्रहण करता है ? अंशतः ग्रहण मानना सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञान में कोई अंश नहीं होता। सर्वात्मना ग्रहण मानना भी सम्भव नहीं है क्योंकि एक ज्ञान जब किसी एक वस्तु को ग्रहण करने में सर्वात्मना व्यापृत होगा तब उस एक ही वस्तु के ग्रहण में उसका सारा स्वरूप समाप्त हो जायगा, फिर उसका कोई अंश बचेगा ही नहीं कि जिसके द्वारा वह दूसरी वस्तु का भी ग्रहण कर सके। फलतः समूहालम्बन ज्ञान का अस्तित्व ही मिट जायगा।

यदि विज्ञानवादी इन शङ्काओं का समाधान इस प्रकार करेंगे कि ज्ञान के बारे में अंश तथा पूर्णता का विकल्प उठ ही नहीं सकता क्योंकि किसी समुदाय के भीतर आने वाले एक-एक व्यक्ति को उस समुदाय का अंश कहा जाता है और उसके भीतर आने वाले समस्त व्यक्तियों को पूर्ण कहा जाता है, अतः जो वस्तु समुदायात्मक हो उसी में अंश एवं पूर्णता का विकल्प उठ सकता है। ज्ञान तो समुदायात्मक वस्तु है नहीं, वह तो एक व्यक्ति है तथा उसका स्वरूप बड़ा विलक्षण है, इसलिये उसमें न तो उक्त विकल्प ही उठ सकता और न उससे अनेक वस्तुओं का ग्रहण होने में कोई विरोध ही हो सकता। तो इस प्रकार का समाधान बाह्यार्थवादी नैयायिक भी कर सकेंगे क्योंकि उनका परमाणु वा अवयवी भी कोई समुदायात्मक पदार्थ नहीं है किन्तु एक व्यक्ति है और उसका भी स्वरूप बड़ा विलक्षण है, अतः उसमें भी न तो अंश तथा पूर्णता का विकल्प उठ सकता और न एक परमाणु का अनेक परमाणुओं से तथा एक अवयवी का अनेक अवयवों से सम्बन्ध होने में कोई विरोध ही हो सकता।

एक परमाणु में एक ही साथ पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, नीचे और ऊपर इन छः दिशाओं से छः परमाणुओं के संयोग होते हैं, अतः संयुज्यमान परमाणु में अनिवार्य रूप से छः अंश मानने होंगे, क्योंकि यदि उसमें अंशभेद की कल्पना न की जायगी तो अन्य परमाणुओं के साथ उसका सर्वात्मनैव संयोग मानना होगा। फलतः एक ही परमाणु के संयोग से उसका पूर्णरूपेण निगरण हो जाने के कारण अन्य परमाणु से उसका संयोग न हो सकेगा। और जब उसमें अंशभेद माना जायगा तब उसके विभिन्न अंशों द्वारा उसमें विभिन्न परमाणुओं के संयोग की उत्पत्ति हो सकेगी। इस प्रकार अंश की कल्पना

आवश्यक होने के कारण निरंश परमाणु की सिद्धि नहीं हो सकती। विज्ञानवादी की इस युक्ति से भी परमाणु का खण्डन नहीं हो सकता, क्योंकि परमाणु के निरंश होने पर भी उसके स्वरूप की स्वाभाविक विलक्षणता के कारण एक ही संयोग से उसके स्वरूप का निगरण न होकर उसमें अनेक संयोगों की उत्पत्ति सुघट हो सकती है। अतः तदर्थ उसमें अंश की कल्पना अनावश्यक है। वस्तु के स्वरूप-वैलक्षण्य को इस प्रकार का महत्वदान विज्ञानवादी के लिये भी आवश्यक है क्योंकि यदि वह वस्तु के स्वरूपगत उक्त महत्त्व को स्वीकार न करेगा तो उसे निरंश ज्ञान की सिद्धि की आशा का भी परित्याग करना पड़ेगा, कारण कि जैसे अंशभेद के विना एक परमाणु अनेक परमाणुओं से संयुक्त नहीं हो सकता वैसे ही एक ज्ञान भी अंशभेद के विना अनेक वस्तुओं का ग्राहक नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान को सांश न मानने पर उसे सर्वात्मनैव अपने विषय का ग्राहक मानना होगा। फलतः एक ज्ञान किसी एक ही विषय को ग्रहण करने में पूर्णरूपेण व्यापृत हो जाने के कारण दूसरे विषय का ग्रहण न कर सकेगा। और जब ज्ञान को अंशवान् माना जायगा तब एकज्ञान भी अपने भिन्न-भिन्न अशों से अपने भिन्न-भिन्न विषयों का ग्रहण कर सकेगा। अतः उक्त प्रकार से प्रसक्त होने वाले ज्ञान की सांशता का परिहार करने के लिए विज्ञानवादी को यही कहना पड़ेगा कि ज्ञान निरंश होने पर भी अपने स्वाभाविक स्वरूपवैलक्षण्य के कारण ही अनेक विषयों का ग्रहण करता है। इसके फलस्वरूप निरंशज्ञान में अनेक विषयों के ग्राहकत्व के समान निरंश परमाणु में अनेक परमाणुओं के संयोग की उत्पत्ति सम्भव हो सकने के कारण उक्त युक्ति से निरंश परमाणु का निराकरण नहीं हो सकता।

आकाश आदि निरवयव द्रव्यों में प्राची, प्रतीची आदि का व्यवहार अर्थात् आकाश अमुक से प्राची—पूरब तथा अमुक से प्रतीची—पश्चिम है, एवं अमुक से उदीची—उत्तर तथा अमुक से अवाची—दक्षिण है इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता किन्तु घट, पट आदि सावयव द्रव्यों में ही होता है, अतः सावयवत्व को ही उक्त व्यवहार का मूल मानना होगा, और इसके फलस्वरूप परमाणु को भी सावयव मानना पड़ेगा, क्योंकि उसमें भी प्राची, प्रतीची आदि का व्यवहार होता है। अतः निरवयव परमाणु की कल्पना अशक्य है। विज्ञानवादी का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सावयवत्व को प्राची, प्रतीची आदि के व्यवहार का मूल नहीं माना जा सकता, कारण कि यदि उसे उक्त व्यवहार का मूल माना जायगा तो किसी लम्बी लाठी के मध्यवर्ती अवयव की अपेक्षा भी उसमें प्राची आदि का व्यवहार होने लगेगा। अतः उक्त व्यवहार के सम्बन्ध में यह व्यवस्था करनी होगी कि जो जिसकी प्रतीची आदि दिशाओं से संयुक्त न होगा

किन्तु उसकी प्राची दिशा से संयुक्त होगा वह उससे प्राची कहा जायगा। इस व्यवस्था के मानने पर लम्बी लाठी में उसके मध्यवर्ती अवयव की अपेक्षा प्राची का व्यवहार नहीं होगा, क्योंकि वह लाठी अपने मध्यवर्ती अवयव की प्रतीची आदि दिशाओं से असंयुक्त नहीं है और इस व्यवस्था में उक्त व्यवहार के लिए किसी वस्तु को सावयव मानने की आवश्यकता नहीं है, अतः परमाणु के निरवयव होने पर भी उसमें प्राची आदि व्यवहार हो सकता है। फलतः विज्ञानवादी की उक्त युक्ति से भी निरवयव परमाणु का खण्डन नहीं हो सकता।

आकाश आदि निरवयव द्रव्यों की छाया नहीं होती और न उनसे किसी का आवरण ही होता अतः यह मानना होगा कि छाया और आवरण सावयव द्रव्य में ही होते हैं। इस मान्यता के फलस्वरूप परमाणु को सावयव मानना अनिवार्य हो जायगा, क्योंकि मूर्त होने के नाते उसमें भी छाया और आवरण स्वीकार करना पड़ता है और उक्त कारणवश जब परमाणु को सावयव मानना पड़ा तब निरवयव परमाणु की कल्पना कथमपि सम्भव नहीं हो सकती। विज्ञानवादी का यह कथन भी संगत नहीं है, यतः छायादार और आवरणकारी होने के लिए परमाणु को सावयव मानने की आवश्यकता नहीं है, यह आवश्यकता तो तब होती जब सावयवत्व छाया और आवरण का मूल होता, पर सावयवत्व को उनका मूल नहीं माना जा सकता क्योंकि स्वच्छ दर्पण आदि द्रव्यों के सावयव होने पर भी उनमें छाया और आवरण का अस्तित्व नहीं होता, अतः छाया और आवरण के सम्बन्ध में यह व्यवस्था मान्य है कि तेज जिस द्रव्य को पार कर आगे न जा सके अर्थात् जिस द्रव्य के संयोग से तेज की गति रुक जाय वह द्रव्य छायावान् तथा आवरणकारी होता है। तो यदि परमाणु में छाया और आवरण का होना प्रामाणिक हो तो उसमें तेज की गति का विरोधी संयोग मान लेने से उसमें छाया और आवरण की उपपत्ति हो जायगी, अतः तदर्थ उसमें सावयवत्व की कल्पना अनावश्यक तथा असंगत है।

परमाणु सावयव है क्योंकि वह मूर्त है, जो-जो मूर्त होता है वह सब सावयव होता है, जैसे घट, पट, आदि। इस अनुमान से परमाणु में सावयवत्व की सिद्धि होने से निरवयव परमाणु की कल्पना में बाधा होगी, यह कथन भी संगत नहीं हो सकता क्योंकि परमाणु की सिद्धि तथा असिद्धि दोनों दशा में उक्त अनुमान का व्याघात हो जाता है. अर्थात् परमाणु की सिद्धि के पूर्व उक्त अनुमान का प्रयोग करने पर परमाणु-रूप आश्रय के सिद्ध न रहने से आश्रयासिद्धि दोष होगा, और परमाणु की सिद्धि के पश्चात् उक्त अनुमान का प्रयोग करने पर बाधदोष होगा, क्योंकि परमाणु स्वसाधक प्रमाण से अवयवहीन ही

सिद्ध होता है, अतः अवयवहीन परमाणु को पक्ष बना उसमें सावयवत्व का साधन करने पर बाधका होना नितान्त प्रस्फुट है। इस असमाधेय दोष के कारण ही क्रिया आदि अन्य हेतुओं से भी परमाणु में सावयवत्व का अनुमान नहीं हो सकता, इस लिए उक्त अनुमान से निरवयव परमाणु की सिद्धि में किसी प्रकार की बाधा होने की सम्भावना नहीं है।

नित्य, निरवयव परमाणु की सिद्धि में बाधकत्वेन सम्भावित युक्तियों के निराकरण का जो प्रकार अब तक उपन्यस्त किया गया है उसका समादर विज्ञानवादी को भी करना होगा, अन्यथा सत्ता तथा व्यवहारयोग्यत्व आदि हेतुओं से ज्ञान में मूर्तत्व का साधन करके मूर्तत्व हेतु से उसमें सावयवत्व का भी साधन कर लिया जायगा और उस साधन के फलस्वरूप निरवयव ज्ञान की सिद्धि असम्भव हो जाने से विज्ञानवादी को भी पराजित होना पड़ जायगा।

इस पर बाह्य अर्थ का अस्तित्व न मानने वाले वादी यदि यह कहें कि हमें परमाणु आदि बाह्य अर्थों के समान ही ज्ञान के भी अस्तित्वरक्षा की कोई चिन्ता नहीं है, हम बाह्य अर्थ की बलिवेदी पर ज्ञान की भी बलि करने को प्रस्तुत हैं, अतः ज्ञान के अस्तित्वलोप की बिभीषिका दिखाकर हमें परमाणु आदि बाह्य अर्थ की सत्ता स्वीकार करने को बाध्य नहीं किया जा सकता, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान की भी सत्ता का लोप कर देने से सर्वशून्यता की प्रसक्ति होती है और सर्वशून्यता का पक्ष लेकर विचारक्षेत्र में प्रवेश ही नहीं किया जा सकता, कारण कि हेतु, दृष्टान्त आदि के द्वारा ही विचार का अवतरण होता है और सर्वशून्यतावाद में हेतु आदि का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि सर्वशून्यतावाद में हेतु आदि की वास्तव सत्ता का ही निषेध किया जाता है, सांवृत अर्थात् वासनामूलक अवास्तव सत्ता तो मानी ही जाती है, अतः सर्वशून्यतावाद में भी सांवृतसत्ताशाली हेतु आदि के द्वारा विचारविनिमय करने में कोई बाधा नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि संवृति के बल से वस्तु की सत्ता तभी हो सकती है जब संवृति की अपनी सत्ता मानी जाय, अन्यथा संवृति यदि स्वयं ही सत् न होगी तो वह दूसरे को अस्तित्वदान कैसे कर सकेगी? और यदि वह सत् मानी जायगी तो सर्वशून्यतावाद ही न खड़ा हो सकेगा, क्योंकि सब के भीतर संवृति भी आती है, फिर जब संवृति सत् हुई तो सर्वशून्यता कैसे सम्भव हो सकेगी? यदि यह कहा जाय कि संवृति की भी वास्तव सत्ता मान्य नहीं है किन्तु उसकी भी संवृतिमूलक ही सत्ता मान्य है और सांवृतिक सत्ता के साथ सर्वशून्यता का

कोई विरोध नहीं है, अतः सर्वशून्यतावाद के खड़े होने में कोई अड़चन नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस दूसरी संवृति को भी यदि सत्य न माना जायगा तो उसके बल से पहली संवृति को अस्तित्व न प्राप्त होगा और जब पहली संवृति को अस्तित्वलाभ न होगा तो उसके द्वारा हेतु आदि पदार्थों को भी अस्तित्व न प्राप्त होगा, फलतः सर्वशून्यता-वाद में विचार का अवतरण असम्भव हो जायगा, और यदि इस आपत्ति के भय से दूसरी संवृति को सत्य माना जायगा तो उसी से सर्वशून्यता का बाध होगा। यदि यह कहा जाय कि अन्य पदार्थों के समान ही समस्त संवृतियों की भी सत्ता संवृतिमूलक हो है और संवृतियां अनन्त अर्थात् अन-वस्थित हैं, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थ तथा संवृति के सम्बन्ध में जैसे प्रश्न उठते हैं वैसे ही प्रश्न संवृतिमूलक सत्ता के सम्बन्ध में भी उठते हैं और उनका कोई उचित समाधान सम्भव नहीं है। जैसे अन्य पदार्थ तथा संवृति की जो सांवृत सत्ता मानी जाती है, उसकी परिभाषा चाहे कुछ भी की जाय, पर वह यदि वास्तव होगी तो उसी से सर्वशून्यता का भङ्ग होगा और यदि वह अवास्तव होगी तो उस अवास्तव सांवृत सत्ता से पदार्थों को व्यवहारक्षमता नहीं प्राप्त होगी, फलतः व्यवहारक्षम हेतु आदि का अभाव होने के कारण सर्वशून्यतापक्ष में विचार का अवतरण असम्भव हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि यद्यपि यह ठीक है कि परमाणु के अस्तित्व का लोप करके बाह्य अर्थ का निराकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि पूर्वोक्त जिन युक्तियों से परमाणु के खण्डन का प्रयास किया गया है वे युक्तियाँ यथोक्त रीति से ज्ञान के भी अस्तित्व को संकट में डाल देती हैं और ज्ञान के अस्तित्वलोप को स्वीकृति नहीं दी जा सकती; क्योंकि ज्ञान का भी अस्तित्व न मानने पर सर्वशून्यता की प्रसक्ति होगी और सर्वशून्यता स्वीकार करने पर हेतु, दृष्टान्त आदि का लोप हो जाने से विचार का अवतरण असम्भव हो जायगा तथापि अनुलम्भ के बल से बाह्य अर्थ का निराकरण करने में कोई बाधा नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि बाह्य अर्थ का निषेध दो ही प्रकार से सम्भव है एक तो परमाणु के निषेध से और दूसरा घट आदि स्थूल पदार्थ के निषेध से। और वह यों कि परमाणु का अभाव होने से घट आदि कार्य का अस्तित्व न हो सकेगा और घट आदि का अभाव होने पर कार्यरूप लिङ्ग का अस्तित्व न होने से अनुमान-द्वारा कारणरूप से परमाणु का अस्तित्व न सिद्ध होगा। पर ये दोनों ही प्रकार सम्भव नहीं हैं क्योंकि अनुपलम्भ से परमाणु अथवा स्थूल पदार्थ के निषेध की सिद्धि नहीं हो सकती कारण कि परमाणु का अनुपलम्भ

योग्य नहीं है और स्थूल पदार्थ का अनुपलम्भ ही नहीं है, प्रत्युत "घट एक तथा स्थूल है" इस प्रकार स्थूल पदार्थ का उपलम्भ ही सर्वजनसिद्ध है, निष्कर्षतः अनुपलम्भ से भी बाह्य अर्थ का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता।

यदि यह कहें कि घट आदि में एकत्व तथा स्थूलता का ज्ञान विकल्प अर्थात् विषयशून्य केवल प्रतीतिमात्र है, इसलिये इस विकल्पात्मक ज्ञान के बल से यह नहीं कहा जा सकता कि एकत्व तथा स्थूलत्व रूप से घट आदि का अनुपलम्भ नहीं है, फलतः अनुपलम्भ द्वारा घट आदि स्थूल पदार्थ के अभाव की सिद्धि अपरिहार्य है, तो यह भी ठीक नहीं है. क्योंकि घट आदि में एकत्व तथा स्थूलता का जो ज्ञान होता है वह विकल्परूप नहीं माना जा सकता क्योंकि वह एक स्पष्ट अनुभव है और विकल्प सदा अस्पष्ट ही होता है। यदि यह कहा जाय कि उक्त ज्ञान की स्पष्टता स्वाभाविक नहीं किन्तु औपाधिक है अतः उसे विकल्परूप मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्त ज्ञान की स्पष्टता का सम्पादन करनेवाली उपाधि के दो ही रूप हो सकते हैं, एक तो उक्त ज्ञान का समानाकारक अनुभव और दूसरा उक्त ज्ञान का विभिन्नाकारक अनुभव। इनमें विभिन्नाकारक अनुभवरूप दूसरी उपाधि के द्वारा उक्त ज्ञान में स्पष्टता के व्यवहार की उपपत्ति नहीं की जा सकती क्योंकि किसी ज्ञान में उससे विभिन्नाकारक अनुभव के गुण वा दोष से गुणयुक्तता वा दोषयुक्तता का व्यवहार युक्तिसिद्ध तथा अनुभवसिद्ध नहीं है। हाँ, समानाकारक अनुभवरूप उपाधि के द्वारा उक्त ज्ञान की स्पष्टता की उपपत्ति सम्भावित हो सकती है, पर यह मानने पर एकत्व तथा स्थूलता के आश्रयभूत घट आदि की सिद्धि अनिवार्य हो जायगी क्योंकि उपाधिभूत अनुभव ही एक तथा स्थूल पदार्थ की सत्ता में प्रमाण हो जायगा।

इस प्रसङ्ग में यह भी विचारणीय है कि ज्ञान के तत्तत् आकार का होना उसके विषय के तत्तत् आकार पर निर्भर है अतः एकाकार तथा स्थूलाकार ज्ञान की उपपत्ति के लिये उसके विषय को एक तथा स्थूल मानना पड़ेगा, ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठेगा कि यदि घट आदि पदार्थ की सत्ता न मानी जायगी तो एकत्व और स्थूलता की प्रतीति किस धर्मी में होगी? परमाणुरूप धर्मी में तो उक्त प्रतीति सम्भव नहीं है क्योंकि स्थूलता और परमाणुरूपता में नैसर्गिक विरोध होने के कारण परमाणु को स्थूलता का धर्मी नहीं माना जा सकता। यदि यह कहें कि यह ठीक है कि एक परमाणु को स्थूलता का धर्मी नहीं माना जा सकता पर परमाणुसमुदाय को स्थूलता का धर्मी मानने में तो कोई आपत्ति नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस परमाणु-

समुदाय को स्थूलत्व का आश्रय मानना है उसको यदि उसके अङ्गभूत एक-एक परमाणु से भिन्न माना जायगा तो वह अवयवी का समशील हो जायगा और तब उस दशा में अतिरिक्त अवयवी का अस्वीकार युक्तिशून्य हो जायगा। और यदि परमाणुसमुदाय को तत्तत् परमाणु से भिन्न न मानकर समुदित परमाणु रूप ही माना जायगा और उन्हें ही स्थूलत्व का आधार माना जायगा, तो वह भी ठीक न होगा क्योंकि समुदित तथा असमुदित परमाणु में भेद न होने के कारण असमुदित परमाणु के समान ही समुदित परमाणु भी स्थूलता का आश्रय न हो सकेंगे।

यदि यह कहा जाय कि निरन्तर-निर्व्यवधान वस्तुओं के अनेक दिग्देशों में आश्रित होने का ही नाम स्थूलता है और वह व्यवधानहीन परमाणुओं में रहती है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी एक परमाणु अनेक दिशाओं में एक समय आश्रित नहीं हो सकता। अनेकत्व और अनेक दिग्देशों में आश्रितता ये दोनों मिलकर स्थूलता की संज्ञा प्राप्त करते हैं, यह कथन भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर एकत्व और स्थूलता की प्रतीति एक साथ न हो सकेगी, फलतः 'यह एक स्थूल वस्तु है' इस प्रकार की लोकसिद्ध अनुभूति का उच्छेद हो जायगा, एक एक परमाणु में रहनेवाले एकत्व का अनेक परमाणुओं में आरोप होने से अनेक में भी एकत्व की प्रतीति हो सकती है, यह कल्पना भी समीचीन नहीं मानी जा सकती क्योंकि स्थूलता जब अनेकत्व घटित है तो उसकी प्रतीति एकत्व के साथ कैसे हो सकती है, कहने का अभिप्राय यह है कि एकत्व और अनेकत्व एक दूसरे के विरोधी हैं अतः उन दोनों की सहप्रतीति आरोपात्मक भी नहीं हो सकती। इसके साथ दूसरी त्रुटि यह भी है कि जब परमाणुसमूह में एकत्व का आरोप होगा तो उसकी अनुभूति एक परमाणु के रूप में ही होगी और उस स्थिति में उसमें स्थूलता की अनुभूति किसी भी प्रकार सम्भव न हो सकेगी, सबसे बड़ी त्रुटि इस कल्पना में यह है कि जिन परमाणुओं में एकत्व और स्थूलता की प्रतीति करनी है उन्हीं को अनेक दिग्देश के रूप में भी ग्रहण करना होगा। फिर एक ही बात हो सकती है, या तो उस परमाणुसमूह को अनेक दिग्देशरूप समझा जाय अथवा उसे अनेक दिग्देश में आश्रित अर्थात् स्थूल समझा जाय। क्योंकि वही दिग्देश और वही दिग्देशाश्रित दोनों नहीं हो सकता। घटात्मक परमाणुसमूह को भूतलात्मक परमाणसमूह में आश्रित समझने में उक्त बाधा नहीं हो सकती, यह उत्तर भी उचित नहीं हो सकता, क्योंकि एकत्व और स्थूलत्व की प्रतीति जैसे घट में होती है उसी प्रकार भूतल में भी होती है, अतः घट में उक्त रीति से तथाकथित स्थूलता की प्रतीति की उपपत्ति कर सकने पर भी

भूतल में स्थूलता की प्रतीति की उपपत्ति नहीं की जा सकेगी क्योंकि घट का भूतलात्मक आश्रयभूत दिग्देश तो अनुभव में आता है पर भूतल का आश्रयभूत कोई दिग्देश अनुभव में नहीं आता। उक्त दोषों के कारण यदि यह कहा जाय कि अनेक दिग्देशों में आश्रित होने का नाम स्थूलता नहीं है अपितु वह एक विशिष्ट प्रकार का परिमाण है, पर उसका आधार कोई एक द्रव्य नहीं होता अपितु वह परिमाण अनेक परमाणुओं में आश्रित होता है, तो यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में 'यह एक स्थूल वस्तु है' इस प्रकार की प्रतीति न होकर 'ये परमाणु स्थूल हैं' इस प्रकार की प्रतीति का होना ही न्यायसंगत होने लगेगा, जो कथमपि स्वीकार्य नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि सूक्ष्म और अतीन्द्रिय परमाणु जब दूरी का परित्याग कर निकट में आ जाते हैं तब वे अपने स्थान में दूसरे परमाणुओं को जन्म देते हैं और इस नवीन जन्म के प्रभाव से वे नये परमाणु अनेक तथा परमाणुस्वरूप होते हुये भी सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय न होकर स्थूल, इन्द्रिययोग्य तथा एकत्व प्रतीति के योग्य हो जाते हैं, फलतः एक अतिरिक्त अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति न मानने पर भी नवोत्पन्न परमाणुओं से ही एकत्व तथा स्थूलत्व की प्रतीति उपपन्न हो जाने के कारण अवयवावयविभाव की सिद्धि निराधार हो जाती है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्व के परमाणुओं से दूसरे परमाणुओं की उत्पत्ति की कल्पना तभी मान्य हो सकती है जब 'सर्वं क्षणिकम्' का सिद्धान्त माना जाय, और वह सिद्धान्त अनन्त दोषों के कारण त्याज्य ठहराया जा चुका है।

इस प्रकार ऊपर बताई गई युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ज्ञान की सत्ता के द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म बाह्य वस्तुओं की सत्ता को समाप्त कर 'ज्ञान से भिन्न वस्तु नहीं होती, जो कुछ प्रतीत होता है वह सब ज्ञानात्मक है' इस योगाचार के मत को मान्यता नहीं दी जा सकती।

यहाँ तक के पूरे सन्दर्भ में न्यायशास्त्र की जिन नीतियों एवं युक्तियों से बाह्यार्थभङ्ग का अर्थात् ज्ञान से अतिरिक्त वस्तु की सत्ता नहीं होती। प्रतीत होने वाला समस्त वस्तुजात ज्ञान का ही आकार होता है, इस बौद्धसम्मत विज्ञानवाद का खण्डन किया गया है उनमें न्यायशास्त्र की एकान्त दृष्टि का मलिन गन्ध भरा हुआ है, अग्रिम सन्दर्भ में उसका शोधन कर दिया जायगा जिससे उक्त नीतियां तथा युक्तियाँ जैनशास्त्र को भी ग्राह्य हो जायेंगी और इसीलिये बाह्यार्थभङ्ग के खण्डनार्थ उसे नूतन अस्त्र अन्वेषण करने की आवश्यकता न होगी।

स्याद्वादतस्तव तु बाह्यमथान्तरङ्गं
सल्लक्षणं शबलतां न जहाति जातु।

एकत्वमुल्लसति वस्तुनि येन पूर्णे
ज्ञानाग्रहादिकृतदैशिकभेद एव ॥ ५२ ॥

हे भगवन् ! आपके मतानुसार बाह्य अथवा आन्तर कोई भी वस्तु स्याद्वाद की परिधि को लांघ कर सत् वस्तु के लक्षण शबलता अर्थात् अनेकान्तरूपता का परित्याग कदापि नहीं करती और इसी कारण पूर्ण अर्थात् अनन्तधर्मात्मक वस्तु में ज्ञान, अज्ञान आदि धर्मों द्वारा जो किसी न किसी प्रकार परस्पर विरुद्ध हैं, अव्याप्यवृत्ति भेद की सिद्धि भी होती है और साथ ही एकत्व अर्थात् अभेद भी किसी न किसी प्रकार बना रहता है ।

श्लोक का तात्पर्य यह है कि जैनतत्त्वदर्शियों की दृष्टि में किसी वस्तु का कोई एक ही नियत रूप नहीं होता किन्तु प्रत्येक वस्तु विरुद्ध-अविरुद्ध अनन्त धर्मों का एक अभिन्न आयतन होती है। उनका कथन यह है कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं, एक रूप तो स्थायी होता है जिसे धर्मी, सामान्य अथवा द्रव्य कहा जाता है और दूसरा रूप आगमापायी-आने जाने वाला होता है जिसे धर्म, विशेष अथवा पर्याय कहा जाता है, ये दोनों ही रूप परस्पर में न तो सर्वथा भिन्न ही होते और न सर्वथा अभिन्न ही होते, किन्तु कथंचित् भिन्न भी होते हैं और कथंचित् अभिन्न भी होते हैं । अतएव वस्तु का स्थायी रूप अर्थात् द्रव्यभाग पर्यायों से अभिन्न होने की दृष्टि से आगमापायी होता है और आगमापायी रूप अर्थात् पर्याय स्थायीरूप द्रव्य से अभिन्न होने की दृष्टि से स्थायी होते हैं, फलतः वस्तु अपने किसी भी रूप से न तो सर्वथा स्थिर होती है और न सर्वथा अस्थिर ही होती है । वस्तु के पर्याय भी इने गिने नहीं होते अपितु अनन्त होते हैं, सच बात तो यह है कि उस वस्तु से भिन्न सारा जगत् उस वस्तु का पर्याय होता है । अन्तर केवल इतना ही होता है कि जगत् के जो पदार्थ उस वस्तु में अश्रित होते हैं वे उसके स्वपर्याय कहे जाते हैं और जो उसमें आश्रित न हो किसी अन्य वस्तु में आश्रित होते हैं वे उसके पर पर्याय कहे जाते हैं तथा जगत् के जो पर्याय कहीं भी आश्रित नहीं होते वे उसके अनाश्रित पर्याय कहे जाते हैं, इस प्रकार जगत् के सारे पदार्थ उस वस्तु के पर्याय होते हैं, द्रव्य तथा पर्याय में कथंचित् अभेद होने के कारण प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक अथवा सर्वात्मक होती है तथा साथ ही अनन्त पर्यायों में सूत्रवत् अनुस्यूत रहने वाले द्रव्य की दृष्टि से एकात्मक भी बनी रहती है । वस्तु की यह एकरूपता तथा अनन्तरूपता स्याद्वादसिद्धान्त के अनुसार अपेक्षाभेद से उपपन्न होती है और इस अपेक्षाभेद के सूचनार्थ ही किसी वस्तु के स्वरूप का वर्णन करते समय उसके स्वरूपबोधक प्रत्येक शब्द के साथ 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है ।

देशेन दृष्ट इह यः स मया न दृष्टो
देशेन चेति विशदव्यवहार एषः ।
संयोगतद्विरहवन्ननु देशभेदादेकत्र
देशिनि विरुद्धनिवेशमाह ॥ ५३ ॥

जिस वस्तु को एक भाग में देखा उसी को अन्य भाग में नहीं देखा – ऐसा स्पष्ट व्यवहार लोक में देखा जाता है और इस व्यवहार के कारण ही भाग-भेद से एक ही वस्तु में दर्शन और अदर्शन इन दो विरुद्ध धर्मों का समावेश स्वीकार किया जाता है और इस प्रकार एक वस्तु में विरुद्ध एवं विभिन्न-रूपता की सिद्धि होती है, यदि यह कहा जाय कि एक वस्तु का दर्शन और अदर्शन उक्त व्यवहार का विषय नहीं है अपितु वस्तु के एक भाग का दर्शन और अन्य भाग का अदर्शन उक्त व्यवहार का विषय है अतः उसके आधार पर एक वस्तु में दर्शन और अदर्शनरूप विरुद्ध धर्मों का समावेश नहीं सिद्ध हो सकता, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एक वृक्ष में कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव की भी सिद्धि नहीं होगी, कहने का तात्पर्य यह है कि 'शाखा में वृक्ष कपिसंयुक्त है और मूल में कपि से असंयुक्त है' इस व्यवहार के विषय में भी यह कहा जा सकेगा कि यह व्यवहार शाखा में कपिसंयोग और मूल में कपिसंयोगाभाव का प्रतिपादन करता है न कि शाखा और मूल की अपेक्षा वृक्ष में उन दोनों के अस्तित्व का प्रतिपादन करता है, फलतः इस व्यवहार के आधार पर वृक्ष में कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव की सिद्धि न हो सकने के कारण कपिसंयोग की अव्याप्यवृत्तिता अर्थात् कपिसंयोगा-भाव के साथ एक आश्रय में रहना न सिद्ध हो सकेगा । इस लिये यह निर्विवाद-रूप से मानना होगा कि जिस प्रकार एक ही वृक्ष में शाखा, मूल आदि अव-च्छेदकभेद से कपिसंयोग तथा कपिसंयोगाभाव आदि परस्पर विरोधी धर्म रह लेते हैं उसी प्रकार देश, काल, पुरुष आदि अपेक्षाभेद से एक ही वस्तु में दर्शन-अदर्शन आदि परस्पर विरोधी धर्म भी रह सकते हैं, अतः वस्तु की विरुद्ध एवं विभिन्नरूपता अत्यन्त युक्तिसंगत है ।

यद्गृह्यते तदिह वस्तु गृहीतमेव
तद्गृह्यते च न च यत्तु गृहीतमास्ते ।
इत्थं भिदामपि स किं न विदांकरोतु
यः पाठितो भवति लक्षणभङ्गजालम् ॥ ५४ ॥

जो वस्तु जिस समय ज्ञायमान होती है अर्थात् जानी जाती है उस समय वह वस्तु नियमेन ज्ञात हो जाती है, अर्थात् जिस समय किसी वस्तु का ज्ञान

उत्पन्न होता है उस समय उस वस्तु के साथ ज्ञान का सम्बन्ध सम्पन्न हो जाता है, परन्तु जो वस्तु ज्ञात हो जाती है वह नियमेन ज्ञायमान भी हो यह बात नहीं है, अर्थात् जिस समय वस्तु के साथ ज्ञान का संबन्ध सम्पन्न हो गया रहता है उस समय उस ज्ञान की उत्पत्ति भी होती है, यह नियम नहीं है। स्पष्ट आशय यह है कि वस्तु दो समयों में ज्ञात कही जाती है, ज्ञान की उत्पत्ति के समय और ज्ञान की निवृत्ति हो जाने के समय। पहले समय में ज्ञान के विद्यमान रहने के कारण वस्तु ज्ञात होने के साथ ज्ञायमान भी हो सकती है, पर दूसरे समय में ज्ञान के विद्यमान न होने से वस्तु ज्ञात तो होगी पर ज्ञायमान नहीं हो सकती, क्योंकि कोई भी वस्तु ज्ञायमान तभी होती है जब उसका ज्ञान विद्यमान होता है। वस्तु की ज्ञायमानता और ज्ञातता के उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि ज्ञायमान वस्तु में ज्ञातत्व और अज्ञातत्व के समावेश की सम्भावना तो नहीं है पर ज्ञात वस्तु में ज्ञायमानत्व और अज्ञायमानत्व के समावेश में कोई बाधा नहीं है। फलतः एक ही वस्तु में ज्ञायमानत्व और अज्ञायमानत्वरूप विरुद्ध धर्मों का समावेश होने से वस्तु की विरुद्ध एवं विभिन्नरूपता की सिद्धि सम्पन्न होती है।

प्रश्न हो सकता है कि जब वस्तु का स्वरूप विरुद्ध एवं विभिन्न रूपात्मक है तब सब लोगों को उसके इस स्वरूप की प्रतीति क्यों नहीं होती ? उत्तर यह है कि जब किसी भी मनुष्य को किसी वस्तु की प्रतीति होती है तब उसे उस वस्तु के समस्त रूप की अविविक्त प्रतीति होती ही है, क्योंकि जब वस्तु विरुद्ध, अविरुद्ध, स्वाश्रित, पराश्रित तथा अनाश्रितरूप अनन्त धर्मपर्यायों की अभिन्न समष्टिरूप है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि वस्तु की आंशिक ही प्रतीति होती है और पूर्ण प्रतीति नहीं होती, हाँ यह अवश्य है कि सर्वसाधारण को वस्तु के समस्त रूपों की विविक्त एवं विस्पष्ट प्रतीति नहीं होती क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति के लिये स्याद्वादी दृष्टि का होना आवश्यक होता है, और जिसे यह दृष्टि प्राप्त है, जिसमें वस्तु के उत्पत्ति, विकास और स्थैर्यरूप लक्षणों के भङ्गजाल का अध्ययन किया है उसे वस्तु की अनन्तरूपता की विविक्त प्रतीति होती ही है, अतः युक्ति और प्रमाण से जब वस्तु का यह अनन्त विशाल स्वरूप सिद्ध होता है तब सामान्य मानव को उसकी स्पष्ट प्रतीति न होने के कारण उसे अस्वीकार कर देना उचित नहीं है अपितु उसकी विविक्त प्रतीति प्राप्त करने के हेतु दृष्टि को स्याद्वाद के अञ्जन से विमल और ग्रहणपटु बनाने के निमित्त अनेकान्तदर्शी आचार्यों का सत्सङ्ग करना अपेक्षित है।

तत्त्वं ह्यबुध्यत शिशुर्भवतः किलेदं
षड्वार्षिकोऽपि भगवन्नतिमुक्तकर्षिः।

जानन्ति ये न गतवर्षशतायुषोऽपि
धिक्तेषु मोहनृपतेः परतन्त्रभावम् ॥ ५५ ॥

हे भगवन् ! छः वर्ष के वय का आप का स्नेहपात्र बालक, जिसे अतिमुक्तक ऋषि की अवस्था प्राप्त है, जिसे उस छोटे ही वय में वस्तु की अनेकान्तता का दर्शन होने लगा है और जिसने उसी वय में जननी की अनुज्ञा प्राप्त कर जैन-शास्त्रोक्त दीक्षा ग्रहण कर ली है, जिस वस्तु को अवगत कर लेता है उसे अन्य सम्प्रदाय के सुविख्यात अतिवृद्ध विद्वान् भी नहीं जान पाते, वे इस दयनीय अज्ञानदशा में क्यों पड़े रहते हैं ? इसलिये कि जब उन्हें किसी वस्तु का अंशतः तत्त्वदर्शन प्राप्त होता है तो वे उसी को वस्तु की पूर्णता मान बैठते हैं, उन्हें अहङ्कार हो जाता है कि उन्होंने उस वस्तु को साकल्येन जान लिया है, अब उन्हें उसके सम्बन्ध में कुछ और जानने को शेष नहीं है। फलतः उस वस्तु के विषय में और नई जानकारी प्राप्त करने की उनकी आकाङ्क्षा समाप्त हो जाती है, उनकी यह मनोवृत्ति क्यों होती है ?

इसलिये कि एक ऐसी मिथ्या दृष्टि ने जो नितान्त निन्दनीय और त्याज्य है, उन्हें चिरकाल से आक्रान्त कर रखा है। अतः जब तक इस मिथ्या दृष्टि से उनका पिण्ड नहीं छूटता तब तक उनकी इस अज्ञानदशा का अन्त होना असम्भव है, इस दृष्टि से पिण्ड छुड़ाने का उपाय क्या है ? इसका एक ही उपाय है और वह है अनेकान्तदर्शी आचार्यों की शरण में जा कर उनसे तत्त्वज्ञान की शिक्षा प्राप्त करना।

आवृत्त्यनावृतिपदेऽपि समा दिशेषा
जात्यावृतौ भवति वैनयिकी कथं धीः ?
चित्रा च जातिरवयव्यपि तद्वदेव
चित्रो भवन्न तनुते भुवि कस्य चित्रम् ? ॥ ५६ ॥

जो रीति एक ही वस्तु के दृष्ट और अदृष्ट होने में तथा ज्ञायमान और अज्ञायमान होने में बनाई गई है वही उसके आवृत और अनावृत होने के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार वही वस्तु अंशभेद से दृष्ट भी होती है और अदृष्ट भी होती है, ज्ञायमान भी होती है और अज्ञायमान भी होती है, उसी प्रकार अंशभेद से वही वस्तु आवृत भी हो सकती है और अनावृत भी हो सकती है। फलतः आवृतत्व और अनावृतत्व के सम्बन्ध से भी वस्तु की विरुद्ध एवं विभिन्नरूपता सिद्ध होती है।

यदि यह कहा जाय कि जिस समय वस्तु के किसी अंश के साथ आवरण का सम्बन्ध होता है उस समय वह वस्तु अथवा उसका परिमाण नहीं आवृत

होता, उन दोनों का दर्शन तो उस समय भी होता ही है, कमी केवल इतनी ही रहती है कि उस समय उसके परिमाण के विशेष रूप का दर्शन नहीं होता। अर्थात् अंश के आवरणकाल में यह निश्चय नहीं हो पाता कि इस वस्तु का परिमाण हाथ भर है अथवा दो हाथ है अथवा कुछ और है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसका सीधा अर्थ यह होता है कि अंश के साथ आवरण का सम्बन्ध होने की दशा में वस्तु और उसके परिमाण तो आवृत नहीं होते पर परिमाण की हस्तत्व, द्विहस्तत्व—हाथ या दो हाथ का होना—आदि जाति आवृत हो जाती है, किन्तु इस बात को स्वीकृत करना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जब समान परिमाण के दो द्रव्यों में किसी एक ही द्रव्य का अंशावरण होगा तब दूसरे द्रव्य के परिमाण में हस्तत्व आदि जाति का ज्ञान न हो सकेगा, कारण कि जाति तो दोनों द्रव्यों के परिमाण में एक ही है और वह अंशावरण वाले द्रव्य के परिमाण में आवृत हो चुकी है। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि परिमाण की पहचान में पटुता प्राप्त किये हुये व्यक्ति को समान परिमाणवाले आवरणहीन द्रव्य के आधार पर अंशावृत द्रव्य के परिमाण में भी हस्तत्व आदि जाति का निश्चय होता है पर जाति को आवृत मानने पर न हो सकेगा। तीसरा दोष यह है कि जिस द्रव्य का परिमाण चौड़ाई और लम्बाई दोनों ओर हाथ भर है और चौड़ाई की ओर आधा भाग ढका है तथा लम्बाई की ओर पूरा भाग खुला है, चौड़ाई की ओर उस द्रव्य के परिमाण की जाति का अर्थात् उसके हाथ भर होने का निर्णय तो नहीं होता पर लम्बाई की ओर होता है। किन्तु जाति को आवृत मानने पर यह निर्णय न हो सकेगा। इस दोष के निवारणार्थ यदि परिमाणगत जाति को द्रव्य की केवल चौड़ाई की ओर ही आवृत और लम्बाई की ओर अनावृत माना जायगा तो जाति को चित्र अर्थात् अपेक्षाभेद से आवृतत्व और अनावृतत्वरूप विरुद्ध धर्मों का आश्रय मानना होगा, फिर जाति को जब इस प्रकार अनेकान्तरूप मानना ही पड़ता है तब द्रव्य को अनेकान्त रूप न मानने में कोई कारण नहीं रह जाता। अतः वस्तु की अनेकान्तरूपता निर्विवादरूप से सभी को स्वीकार करना अनिवार्य है।

एकत्र देशभिदयाऽनुभवेन कम्पा-
कम्पावपि प्रकृतवस्तुनि भेदकौ स्तः।
धीविप्लवोपगमतश्च न चेद्विभाग-
संयोगभेदपरिकल्पनया च दोषः॥ ५७॥

जिस समय किसी वृक्ष के एक भाग में कम्प होता है और दूसरा भाग निष्कम्प रहता है उस समय वृक्ष में कम्पयुक्त भाग की ओर कम्प का और

निष्कम्प भाग की ओर कम्पाभाव का अनुभव होता है, इसलिये अवयव के भेद से वृक्ष में कम्प तथा कम्पाभावरूप विरुद्ध धर्मों का समावेश माना जाता है और इसी कारण वृक्ष की अनेकान्तरूपता भी माननी पड़ती है, यदि यह कहा जाय कि वृक्ष के किसी अवयव में कम्प और अन्य अवयव में कम्पाभाव की दशा में वृक्ष में जो कम्प का अनुभव होता है वह भ्रम है और भ्रम से विषय की सिद्धि नहीं होती, अतः उस दशा में वृक्ष निष्कम्प ही रहता है, फलतः कम्प और कम्पाभाव के समावेश के आधार पर वृक्ष की अनेकान्तरूपता नहीं सिद्ध हो सकती, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर कम्पयुक्त भाग की ओर वृक्ष पर दृष्टि पड़ने पर जैसे वृक्ष में कम्प का भ्रम होता है उसी प्रकार निष्कम्प भाग की ओर दृष्टि पड़ने पर भी वृक्ष में कम्प का भ्रम होने लगेगा, और वृक्ष के एक भाग में कम्प होने के समय यदि उस भाग में वृक्ष को भी कम्पयुक्त माना जायगा तब वृक्ष में कम्प का ज्ञान यथार्थ होगा और वह निष्कम्प भाग की ओर वृक्ष के साथ नेत्र का संयोग होने पर नहीं होगा किन्तु कम्पयुक्त भाग की ओर नेत्र का संयोग होने से ही होगा, क्योंकि इस पक्ष में यह नियम माना जायगा कि किसी द्रव्य में अव्याप्त होकर रहनेवाले पदार्थ का दर्शन तभी होता है जब उस द्रव्य के साथ नेत्र का संयोग उस भाग में हो जिस भाग में वह द्रव्य इस अव्याप्यवृत्ति धर्म का आश्रय होता हो, यदि यह कहा जाय कि वृक्ष के एक भाग में कम्प होने के समय वृक्ष को निष्कम्प मानने के पक्ष में भी यह नियम माना जायगा कि वृक्ष में कम्प का भ्रम होने के लिए वृक्ष के जिस भाग में कम्प होता है उस भाग की ओर वृक्ष के साथ नेत्र का संयोग अपेक्षित है, अतः निष्कम्प भाग की ओर वृक्ष के साथ नेत्र का संयोग होने से वृक्ष में कम्प के भ्रम की आपत्ति न होगी, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस नियम की कल्पना का कोई आधार नहीं है, कम्पयुक्त भाग की ओर ही दृष्टि पड़ने पर वृक्ष में कम्प का ज्ञान होना और निष्कम्प भाग की ओर दृष्टि पड़ने पर कम्प के ज्ञान का न होना ही उक्त नियम की कल्पना का आधार है, यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इस घटना की उपपत्ति वृक्ष में अव्याप्य वृत्ति कम्प का उदय मान लेने से भी हो जाती है, और वृक्ष के एक भाग में कम्प होने के समय वृक्ष को कम्पयुक्त मानने के पक्ष में निष्कम्प भाग की ओर वृक्ष पर दृष्टि पड़ने पर वृक्ष में कम्प के ज्ञान का जन्म रोकने के हेतु जिस नियम की चर्चा की गई है उसके आधारहीन होने का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता, क्योंकि वृक्ष में अव्याप्त होकर रहने वाले संयोग आदि अन्य धर्मों की उस प्रकार की प्रतीति के निवारणार्थ वह नियम पहले से ही स्वीकृत है।

दूसरी बात यह है कि यदि अवयवी में प्रतीत होने वाले कम्प को अवयवगत मान कर अवयवी को निष्कम्प माना जायगा तो अवयवी में प्रतीत होने वाले अन्य समस्त धर्मों में भी यही न्याय लगेगा और उसका परिणाम यह होगा कि अवयवी निर्धर्मक होने से तुच्छ हो जायगा और अवयवी के तुच्छ होने पर सर्वत्र शून्यवाद की दुन्दुभि बज उठेगी, तात्पर्य यह है कि जो धर्म जहाँ प्रतीत होता है यदि वहाँ उसका अस्तित्व मानना आवश्यक न होगा तो किसी दूसरे स्थान में उसका अस्तित्व क्यों माना जायगा, फलतः धर्म का अस्तित्व सर्वथा लुप्त हो जायगा, प्रतीत होने वाले समस्त पदार्थ अस्तित्वहीन हो जायँगे, प्रतीतियां वस्तुमूलक न हो वासनामूलक हो जायँगी, और प्रतीतियों के वासनामात्रमूलक होने का ही अर्थ है शून्यवाद।

तीसरी बात यह है कि शाखा में कम्प होने के समय यह प्रतीति होती है कि 'वृक्ष अपने शाखाभाग में कम्पित हो रहा है'। इस प्रतीति में वृक्ष और शाखा दोनों के साथ कम्प का सम्बन्ध भासित होता है, अब यदि शाखा को ही कम्पयुक्त मान कर वृक्ष को निष्कम्प माना जायगा तो उक्त प्रतीति को वृक्ष और शाखा में भासित होने वाले कम्प के सम्बन्धों के विषय में भ्रमात्मक मानना होगा, क्योंकि वृक्ष को निष्कम्प मानने पर केवल वृक्ष के साथ ही कम्प का सम्बन्ध नहीं होगा यह बात नहीं है अपितु शाखा के साथ भी कम्प का वह सम्बन्ध न होगा जो उक्त प्रतीति में शाखा के साथ भासित होता है, अभिप्राय यह है कि उक्त प्रसीति में वृक्ष के साथ कम्प का समवायसम्बन्ध तथा शाखा के साथ अवच्छेदकतासम्बन्ध भासित होता है, पर वृक्ष को निष्कम्प मानने पर ये दोनों ही सम्बन्ध नहीं बन सकते, यदि यह कहा जाय कि वृक्ष को निष्कम्प मानने पर वृक्ष के साथ कम्प का समवाय सम्बन्ध न हो किन्तु शाखा के साथ उसका अवच्छेदकत्व सम्बन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जब कोई धर्म किसी अवयवी में अंशतः समवेत होता है तभी उसका अवयव उस धर्म का अवच्छेदक होता है अन्यथा नहीं। यदि यह कहा जाय कि उक्त प्रसीति में वृक्ष और शाखा दोनों के साथ कम्प के समवाय सम्बन्ध का ही भान होता है, किन्तु वृक्ष के निष्कम्प होने से उसमें समवाय सम्बन्ध से जो कम्प का भान होता है उस अंश में वह प्रतीति भ्रम है, और शाखा के सकम्प होने से शाखा में जो समवाय सम्बन्ध से कम्प का भान होता है उस अंश में वह प्रतीति प्रमा है, तो यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वृक्ष और शाखा दोनों में समवाय सम्बन्ध से कम्प का भान मानने पर प्रतीति का

यह आकार नहीं होगा कि वृक्ष अपने शाखाभाग में कम्पित हो रहा है' किन्तु उसका आकार होगा 'वृक्ष और शाखा दोनों कम्पित हो रहे हैं। अतः 'वृक्ष अपने शाखाभाग में कम्पित हो रहा है' इस लोकसिद्ध प्रतीति के अनुरोध से वृक्ष को समवाय सम्बन्ध से तथा शाखा को अवच्छेदकता सम्बन्ध से कम्पयुक्त मानना अनिवार्य है।

चौथी बात यह है कि जब जलयुक्त दो पात्रों में एक पात्र का जल हिलता हुआ होता है तथा दूसरे पात्र का जल स्थिर होता है और उन दोनों जलों में निश्चल चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब उस समय दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं, एक हिलते हुये जल में हिलता हुआ और दूसरा स्थिर जल में स्थिररूप से विद्यमान, फिर जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा चञ्चल और स्थिर जल में दो दीख पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जब वृक्ष की केवल कोई एक ही शाखा कम्पयुक्त होगी और और अन्य भाग कम्पहीन होंगे तथा उन दोनों प्रकार के अवयवों में वृक्ष स्वयं निष्कम्प रहकर सम्बद्ध होगा तब एक ही वृक्ष को दो प्रकार के अवयवों में दो दीख पड़ना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः यही मानना उचित होगा कि जब वृक्ष का कोई भाग कम्पित होता है तब उस भाग में वृक्ष स्वयं भी कम्पित हो जाता है और उसका जो भाग निष्कम्प रहता है उसमें वह भी निष्कम्प रहता है, इस पक्ष में कम्पयुक्त और कम्पहीन अवयवों में एक ही वृक्ष दो क्यों नहीं दीख पड़ता, इस प्रश्न का क्या उत्तर होगा ? इसका उत्तर यह है कि जहाँ चञ्चल और स्थिर दोनों आधार एक दूसरे से पृथक् होते हैं और दोनों के बीच व्यवधान करने वाला भी कोई पृथक् होता है वहीं आधार-भेद से आधेयभेद की प्रतीति होती है, दो पात्रों में रखे जल एक दूसरे से पृथक् हैं और उनके बीच व्यवधान करने वाली पात्ररूप एक पृथक् वस्तु है, अतः दो जलों में एक ही चन्द्रमा को दो रूप में दिखाई देना युक्तिसंगत है, पर वृक्ष के अवयव एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं, उनके बीच व्यवधान करने वाली उनसे पृथक् कोई वस्तु भी नहीं है, अतः उनमें एक वृक्ष का दो दिखाई देना कथमपि सम्भव नहीं हैं। इस पर यदि यह कहा जाय कि यह उत्तर तो वृक्ष को निष्कम्प मानने पर भी दिया जा सकता है, तो यह ठीक न होगा, क्योंकि उक्त उत्तर के सम्भव होने पर भी उससे वृक्ष की अनेकान्तरूपता का निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त उत्तर में ही यह बात आ जाती है कि वृक्ष अपने अवयवों से अभिन्न भी है और भिन्न भी है, अभिन्नता अपृथग्भूतता-रूप है और भिन्नता अन्यत्व वा वैधर्म्य रूप है।

पाँचवीं बात यह है कि जब किसी अवयवी द्रव्य के किसी अवयव में कम्प होगा तब उस अवयवी में भी कम्प का होना अनिवार्य है, क्योंकि अवयवी

की स्थिति अवयव से पृथक् न होने के कारण जिसके सम्पर्क से अवयव में कम्प होता है उसका सम्पर्क अवयवी में रोका नहीं जा सकता, यदि किसी एक मात्र अवयव के कम्प के समय अवयवी में कम्प की उत्पत्ति को रोकने के लिये अवयवी को ही कम्प का विरोधी मान लिया जायगा तो किसी भी अवयवी में कदापि कम्प न हो सकेगा, होगा केवल परमाणु में, और उस दशा में कम्प का प्रत्यक्ष असम्भव हो जायगा। इस दोष से इस बात को छोड़कर यदि यह कहा जाय कि अवयवी में कम्प होने के लिये उसके समस्त अवयवों में कम्प पैदा करने वाले कारणों का सन्निधान अपेक्षित होता है, अतः जब किसी एक ही अवयव में कम्प के कारण का सन्निधान होता है उस समय अवयवी में कम्प की उत्पत्ति नहीं हो सकती, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर कोई मनुष्य कभी भी अवयवी को कम्पित करने का साहस ही न कर सकेगा, क्योंकि अवयवी को कम्पित करने के लिये समस्त अवयवों को कम्पित करने वाले कारणों को एकत्र करना होगा और उन सब कारणों का ज्ञान दुष्कर होने के नाते उस कार्य में मनुष्य की प्रवृत्ति न हो सकेगी।

छठीं बात जिसकी चर्चा पद्य के उत्तरार्ध में स्पष्ट रूप से की गई है, यह है कि अवयव के कम्प के समय यदि अवयवी को कम्पहीन माना जायगा तो कम्पयुक्त अवयव से जितने भी द्रव्य संयुक्त और विभक्त होंगे उन सबों के साथ अवयवी के बहुत से संयोगज संयोग तथा विभागज विभाग मानने होंगे और उन संयोगों तथा विभागों के पुनर्जन्म को रोकने के लिये उन संयोगों और विभागों को उन्हीं के प्रति अलग-अलग प्रतिबन्धक मानना होगा, और यह कल्पना अत्यन्त गौरवग्रस्त होगी, अभिप्राय यह है कि अवयव के कम्प के समय यदि अवयवी में भी कम्प होगा तो जिन जिन स्थानों से अवयव के संयोग और विभाग होते हैं उन उन स्थलों से अवयवी के भी संयोग और विभाग अवयवी के कम्प से ही उत्पन्न हो जायँगे और अवयवी के कम्प की निवृत्ति हो जाने के कारण उन संयोगों और विभागों का पुनर्जन्म नहीं होगा, परन्तु अवयव के कम्प के समय यदि अवयवी कम्पहीन रहेगा तब अवयव के संयोगी और विभागी स्थानों से अवयवी के जो संयोग तथा विभाग होंगे उनके प्रति अवयव के संयोग तथा विभागों को ही कारण मानना होगा, फिर अवयव के संयोग तथा विभाग रूप कारण जब तक बने रहेंगे तब तक उनके द्वारा अवयवी के संयोग और विभागों के पुनर्जन्म का संकट बना रहेगा, फलतः उस संकट को टालने के निमित्त अवयवी के संयोग, विभागों को उनकी अपनी उत्पत्ति के प्रति प्रतिबन्धक मानना होगा, अतः अवयव में कम्प होने के समय अवयवी को निष्कम्प मानना ठीक न होगा, और जब कम्पयुक्त अवयव में अवयवी को सकम्प और कम्पहीन

अवयव में निष्कम्प माना जायगा तब कम्प और कम्पाभाव के सह सन्निवेश से अवयवी की अनेकान्तरूपता अपरिहार्य होगी ।

न व्याप्यते यदि भिदानुभवाश्रयत्वा-
देकत्र रक्तिमविपर्ययोर्विरोधः ।
सर्वत्र तच्छबलताप्रतिबन्धसिद्धि-
दुर्वादिकुम्भिमदमर्दनसिंहनादः ॥ ५८ ॥

जो वस्त्र लाल रंग से आधा रंगा और आधा विना रंगा होता है, उसमें रंगे भाग में रक्तता और न रंगे भाग में रक्तता का अभाव होता है, किन्तु किसी एक ही भाग में रक्तता और रक्तता का अभाव नहीं होता, इसलिये रक्तत्व और रक्तत्वाभाव में 'एक भाग में एक आश्रय में न होना' रूप विरोध होता है, पर इस विरोध में रक्त और अरक्त के भेद की व्याप्ति नहीं हो सकती, अर्थात् यह नियम नहीं हो सकता कि रक्तत्व और रक्तत्वाभाव के आश्रय परस्पर में भिन्न ही होते हैं, क्योंकि उक्त प्रकार के एक ही वस्त्र में भागभेद से रक्तत्व तथा रक्तत्वाभाव दोनों का अनुभव होता है, फिर जब विरुद्ध धर्मों में आश्रयभेद का नियम नहीं सिद्ध हो सकता तो इसका अर्थ यह होगा कि जिन धर्मों में विरोध होता है उनमें एकान्ततः विरोध ही नहीं होता अपितु किसी एक अपेक्षा से विरोध तथा अन्य अपेक्षा से अविरोध भी होता है, एवं उन धर्मों में एक धर्म के आश्रय में दूसरे धर्म के आश्रय का सर्वथा भेद ही नहीं होता किन्तु किसी एक दृष्टि से भेद तथा दूसरी दृष्टि से अभेद भी होता है, फलतः संसार के समस्त पदार्थों में विरोध तथा अविरोध एवं भेद तथा अभेद की शबलता अर्थात् मिश्रित स्थिति का नियम निष्पन्न होता है, इस बात को समझने के लिये सत्ता तथा पानकरस का उदाहरण उपयुक्त है, सत्ता की बात यह है कि सत्ता द्रव्यत्व से विशिष्ट होकर द्रव्य में ही और गुणत्व से विशिष्ट होकर गुण में ही रहती है, इस लिये विशिष्ट स्वरूप की दृष्टि से द्रव्यत्वविशिष्ट सत्ता तथा गुणत्वविशिष्ट सत्ता में परस्पर विरोध और उनके आश्रय द्रव्य तथा गुण में परस्पर भेद होता है, परन्तु द्रव्यत्व तथा गुणत्व विशेषणों से मुक्त विशुद्ध सत्ता की दृष्टि से न तो उसमें विरोध ही होता और न उसके आश्रय में भेद ही होता, अर्थात् दृष्टि भेद से सत्ता में सत्ता का विरोध भी होता है और अविरोध भी होता है, एवं उसके आश्रयों में भी दृष्टिभेद से भेद भी होता है और अभेद भी होता है। पानकरस की बात यह है कि सोंठ, मिरच, इलायची, किसमिस, पिस्ता और खांड़ आदि द्रव्यों को दूध में पका कर एक पेय तैयार किया जाता है, उस पेय का रस एक मात्र तीता, कड़ुआ, कसैला या मीठा ही नहीं होता, किन्तु उसमें

प्रक्षिप्त द्रव्यों के विभिन्न रसों की समस्त विशेषतायें विद्यमान रहती हैं, वह रस उन द्रव्यों के अपने निजी रसों से विलक्षण होता है, तात्पर्य यह है कि पानकरस के निष्पादक द्रव्यों की अपेक्षा कटुता, मधुरता आदि रस-जातियों में परस्पर विरोध तथा उन जातियों के आश्रयभूत रसों में परस्पर भेद होता है, किन्तु तत्तत् द्रव्यों के मिश्रण से तयार किये गये पेय द्रव्य की अपेक्षा उन जातियों में अविरोध तथा उनके आश्रयभूत पेय रस में अभेद होता है, ठीक यही बात जगत् के सब पदार्थों के सम्बन्ध में है, अतः जगत् का प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त रूप है, पदार्थ मात्र की अनेकान्तरूपता की यह सिद्धि ही अनेकान्तदर्शी आचार्यों का वह गंभीर सिंहनाद है जो एकान्त सिद्धान्त के दुर्दान्त वादि-गजेन्द्रों के मद को चूर्ण विचूर्ण कर देता है।

तद्देशतेतरपदेऽपि समा दिगेषा
चित्रेतरत्वविषयेऽप्ययमेव पन्थाः।
द्रव्यैकतावदविगीततया प्रतीतेः
क्षेत्रैकताऽपि न च विभ्रमभाजनं स्यात् ॥ ५९ ॥

एक वस्तु में रक्तत्व तथा अरक्तत्व के समावेश के सम्बन्ध में जो पद्धति बताई गई है वही तद्देशत्व तथा अतत्देशत्व एवं चित्रत्व तथा चित्रेतरत्व के एकत्र समावेश के सम्बन्ध में भी ग्रहण करनी चाहिए। अर्थात् इन विरोधी धर्मों के समावेश से कथंचिद् भिन्नता होते हुए भी वस्तु की एकता अक्षुण्ण समझी जानी चाहिये। इसी प्रकार जैसे पर्यायों के भेद से द्रव्य में भेद होने पर भी उसकी एकता भ्रम की वस्तु नहीं मानी जाती क्योंकि उसमें होनेवाली एकता की प्रतीति अविगीत-अबाधित रहती है, वैसे ही जिस क्षेत्र—स्थान में भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक द्रव्य एकत्र हो एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं उस क्षेत्र की एकता भी भ्रम की वस्तु नहीं मानी जा सकती, क्योंकि संसर्गी द्रव्यों के भेद से भिन्नता होने पर भी उसमें होनेवाली एकता की प्रतीति अबाधित रहती है।

तद्देशत्व तथा अतद्देशत्व के समावेश का अर्थ यह है कि कोई अवयवी द्रव्य अपने जिस अवयव में जब आश्रित होता है उसी समय वह उसमें अनाश्रित भी होता है, प्रश्न होगा यह कैसे? उत्तर यह है कि अवयवी अपने अंशों सहित आश्रित नहीं हो सकता, क्योंकि यदि अपने समस्त अंशों के साथ आश्रित होगा तो एक ही अवयव में उसकी समाप्ति हो जाने से अन्य अवयव में वह न रह सकेगा और यदि अपने किसी एक ही अंश के साथ रहेगा, तो किस अंश के साथ रहेगा? यदि उस अवयव में उसी अवयव-रूप अंश के

साथ रहेगा तो उस अवयव को अपने आपका आश्रय मानना होगा जो आत्माश्रय दोष के कारण सम्भव नहीं है, और यदि उस अवयव में अन्य अवयवरूप अंश के साथ रहेगा तो यह भी संगत न होगा क्योंकि एक अवयव में दूसरे अवयव की स्थिति नहीं है, यदि यह कहें कि अवयवी अपने अवयव में आश्रित ही नहीं होता, तो यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अवयवों में अवयवी के रहने की लोकसिद्ध प्रतीति का अपलाप हो जायगा तथा अवयव–अवयविभाव के आधार का भङ्ग हो जायगा। फलतः इन सब विचारों का यही निष्कर्ष निकलता है कि अवयवी अपने तत्तत् अययवों में स्वरूपेण अर्थात् अंश का अवलम्बन किये विना ही आश्रित होता है और समग्र अथवा एक-एक अंश की दृष्टि से उनमें अनाश्रित रहता है। इस निष्कर्ष के फलस्वरूप यह बात सिद्ध होती है कि अवयवी तद्देशाश्रितत्व और तद्देशा-नाश्रितत्वरूप परस्पर-विरोधी धर्मों का आधार होने से कथंचित् अनेकात्मक होता है और एकता की अबाधित प्रतीति होने के कारण कथंचित् एकात्मक भी होता है।

चित्रत्व तथा चित्रेतरत्व के समावेश का अर्थ यह है कि नील, पीत आदि अनेक जातीय रूपवाले अवयवों से जो अवयवी द्रव्य उत्पन्न होता है उसमें पीत आदि कोई एक जातीय ही रूप नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर उसके समस्त भागों में नील, पीत आदि किसी एक जातीय ही रूप के दर्शन की आपत्ति होगी। नील, पीत आदि समग्र रूपों की समष्टि भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि सब रूपों का अस्तित्व यदि सब भागों में होगा तो सब भागों में सब रूपों के अलग-अलग दर्शन की आपत्ति होगी और यदि एक रूप का एक भाग में तथा दूसरे रूप का दूसरे भाग में अस्तित्व होगा तो रूप के व्याप्यवृत्तित्व स्वभाव की हानि होगी। उस द्रव्य में नील, पीत आदि रूपों का उत्पत्ति न होकर किसी अन्य जाति के नितान्त नूतन रूप की उत्पत्ति होती है, यह भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि नीलत्व, पीतत्व आदि जातियों से भिन्न रूपजाति की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत एक नवोन जाति के रूप की कल्पना का गौरव है। यदि इन सब दोषों के कारण यह कहा जाय कि उक्त द्रव्य में कोई भी रूप नहीं रहता किन्तु वह वायु के समान नीरूप ही होता है, तो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि नीरूप होने पर वह नेत्र से ग्राह्य नहीं होगा। इसलिए अन्ततोगत्वा उस द्रव्य में ऐसे रूप का अस्तित्व मानना होगा जिसमें नीलत्व, पीतत्व आदि समस्त रूपजातियों का समावेश हो और जिसे चित्र शब्द से व्यवहृत किया जाय। चित्ररूप के इस स्वरूप की दृष्टि से द्रव्य के चित्र होने का अर्थ होगा। नीलत्व, पीतत्व

आदि जातियाँ परस्पर विरोध का परित्याग कर जिस रूप में सह समवेत होती हैं उस रूप का आश्रय होना और द्रव्य के चित्रेतर होने का अर्थ होगा परस्पर विरोध का परित्याग न करने पर वे जातियाँ जिन रूपों में समवेत होती हैं उन रूपों का आश्रय न होना। तात्पर्य यह है कि नीलत्व, पीतत्व आदि जातियां यदि परस्पर विरोध का त्याग कर देंगी तो वे सब किसी एक रूप में अवस्थित हो सकती हैं और ऐसे रूप का आश्रय चित्र द्रव्य कहला सकता है, किन्तु उक्त जातियां यदि अपना विरोध बनाये रहेंगी तो वे किसी एक रूप में न रह सकेंगी अपितु भिन्न-भिन्न रूपों में रहेंगी, फिर जो द्रव्य उन भिन्न-भिन्न रूपों का आश्रय न होगा वह चित्रेतर कहा जायगा। चित्रत्व तथा चित्रेतरत्व की इस व्याख्या के अनुसार यह स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि जो द्रव्य नील, पीत आदि विभिन्न जाति के रूपों से युक्त अवयवों के संयोग से उत्पन्न होता है वह चित्र भी होता है और चित्रेतर भी होता है तथा चित्रत्व एवं चित्रेतरत्वरूप भेदक धर्मों का आश्रय होने से कथंचित् भिन्न भी होता है और एकत्व की अबाधित प्रतीति का विषय होने के कारण अपना एकत्व भी बनाये रहता है।

स्थूलाणुभेदवदभिन्नपरानपेक्ष-
सद्व्यापकेतरनिषेधकशून्यवादाः।
एतेन तेऽभ्युपगमेन हताः कथंचित्
त्वच्छासनं न खलु बाधितुमुत्सहन्ते ॥ ६० ॥

भगवान् महावीर के प्रति ग्रन्थकार का कथन है कि —

भगवन्! शून्यवाद में पर्यवसित होने वाले स्थूलत्व, अणुत्व आदि रूप में वस्तु की सत्ता के निषेध आप के कथंचित् अभ्युपगम की नीति से निरस्त होने के कारण आप के स्याद्वादशासन को बाधा पहुँचाने में असमर्थ हैं।

जैन दर्शन में जगत् के प्रत्येक पदार्थ को अनन्त धर्मों का अभिन्न आस्पद माना जाता है और सप्तभङ्गी नयवाक्य से प्रत्येक धर्म का बोध कराया जाता है तथा वाक्य के प्रत्येक भङ्ग की रचना 'स्यात्' शब्द से की जाती है। उदाहरणार्थ आत्मा के अनन्त धर्मों में से अस्तित्व धर्म का बोध कराने के लिये सप्तभङ्गी न्याय का प्रयोग निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

आत्मा—

१. स्यादस्ति–कथंचित् है।

२. स्यान्नास्ति–कथंचित् नहीं है।

३. स्यादस्ति च नास्ति च–कथंचित् है और कथंचित् नहीं भी है।

४. स्यादवक्तव्यः-कथंचित् अवाच्य है।

५. स्यादस्ति चावक्तव्यश्च—कथंचित् है तथा कथंचित् अवाच्य है।

६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च-कथंचित् नहीं है तथा कथंचित् अवाच्य है।

७. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च-कथंचित् है, कथंचित् नहीं है तथा कथंचित् अवाच्य है।

वस्तु की मान्यता के सम्बन्ध में जैनदर्शन की इस दृष्टि को ही स्याद्वाद शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इसके विरोध में बौद्धों की ओर से यह कहा जाता है कि स्याद्वाद का यह शासन संगत नहीं है क्योंकि यह अनन्त-धर्मात्मक वस्तु के अस्तित्व पर ही प्रतिष्ठित हो सकता है और वस्तु का अस्तित्व किसी भी रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तु का अस्तित्व यदि माना जायगा तो उसे स्थूल, अणु, भिन्न, अभिन्न, सापेक्ष, निरपेक्ष, व्यापक अथवा अव्यापक इन्हीं रूपों में से किसी रूप में मानना होगा, पर इनमें किसी भी रूप में उसे नहीं माना जा सकता। जैसे वस्तु को स्थूल रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि उसे यदि स्थूल रूप में ही स्वीकृत किया जायगा तो अणु वस्तु के न होने से वस्तुवों की स्थूलता में न्यूनाधिक्य नहीं होगा, यह इस लिये कि वस्तुवों की स्थूलता का न्यूनाधिक्य उन्हें निष्पन्न करने वाले अणुवों की संख्या के न्यूनाधिक्य पर ही निर्भर होता है, वस्तु को अणु रूप में भी नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि वस्तु यदि अणु रूप होगी तो उसका प्रत्यक्ष न हो सकने के कारण लोक-व्यवहार का उच्छेद हो जायगा। वस्तु को भिन्न रूप में भी नहीं स्वीकृत किया जा सकता, क्योंकि वस्तु यदि भिन्न होगी तो अपने आप से भी भिन्न होगी, और अपने आप से भिन्न होने का अर्थ होगा अपनेपन का परित्याग अर्थात् शून्यता। वस्तु को अभिन्न रूप में भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि वस्तु का स्वभाव अभिन्न होगा होगा तो कोई वस्तु किसी से भिन्न न होगी, फलतः घोड़े, बैल आदि की परस्पर भिन्नता का लोप हो जाने से एक के स्थान में दूसरे के भी समान विनियोग की आपत्ति होगी। वस्तु को सापेक्ष रूप में भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस पक्ष में प्रत्येक वस्तु के सापेक्ष होने से अपेक्षात्मक वस्तु को भी सापेक्ष कहना होगा, फलतः अपेक्षा की कल्पना के अनवस्थाग्रस्त होने से वस्तु की सिद्धि असम्भव हो जायगी। निरपेक्ष रूप में भी वस्तु की सत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि वस्तु को निरपेक्ष मानने पर पूर्व और उत्तर अवधि की भी अपेक्षा समाप्त हो जाने से प्रत्येक वस्तु को अनादि और अनन्त मानना पड़ जायगा और

उसके फल-स्वरूप जगत् के असंख्य पदार्थों की लोकसिद्ध सादिता और सान्तता का लोप हो जायगा। वस्तु को व्यापक रूप में भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यापकता को यदि वस्तु का स्वभाव माना जायगा तो प्रत्येक पदार्थ का सर्वत्र अस्तित्व होने से सब स्थानों में सब पदार्थों के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। वस्तु को अव्यापक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अव्यापकता को यदि वस्तु का स्वभाव माना जायगा तो उसके लोकसम्मत आश्रय में भी उसकी व्याप्ति का लोप हो जाने से उसके नितान्त असत्व-शून्यता की प्रसक्ति होगी। इस प्रकार वस्तु की सत्ता के शून्यताग्रस्त हो जाने से अनन्तधर्मात्मक वस्तु के अस्तित्व-रूप उपजीव्य की सिद्धि न होने के कारण स्याद्वाद की प्रतिष्ठा असम्भव है।

बौद्धों के इस आक्षेप के उत्तर में जैन विद्वानों का कथन यह है कि वस्तु के स्थूलत्व, अणुत्व आदि जिन धर्मों का निषेध उपर्युक्त रीति से किया गया है वे सब धर्म वस्तु में अपेक्षाभेद से कथंचित् विद्यमान हैं। वस्तु में उन धर्मों का स्वीकार करने पर जो दोष बताये गये हैं वे उन धर्मों को एकान्ततः स्वीकार वा अस्वीकार करने पर ही सम्भव हैं, अतः उन धर्मों के अभिन्न आस्पद-रूप में वस्तु की सिद्धि होने में कोई बाधा न होने से स्याद्वाद-शासन पर किसी प्रकार की कोई आंच नहीं आ सकती।

एतेन ते गुणगुणित्वहतेर्निरस्तं
नैरात्म्यमीश ! समयेऽनुपलब्धितश्च।
आत्मा यदेष भगवाननुभूतिसिद्ध
एकत्वसंबलितमूर्तिरनन्तधर्मा ॥ ६१ ॥

महावीर को ईश्वर के रूप में सम्बोधित करते हुये ग्रन्थकार का कथन यह है कि गुण और गुणी में भेद के अभाव तथा अनुपलब्धि से प्रसक्त होने वाला नैरात्म्य उसके स्याद्वादशासन में अनायास ही निरस्त हो जाता है क्यों कि इस शासन को वह अनुभव प्राप्त है जिसके साक्ष्य पर अनन्तधर्मात्मक एक व्यक्ति के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि अपरिहार्य है।

न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणों का आधार एक नित्य विभु द्रव्य है। ज्ञान आदि विशेष गुणों का उदय होने पर उनके साथ अन्तरिन्द्रिय—मन से उसका प्रत्यक्ष होता है। देह, इन्द्रिय आदि को उन गुणों का आश्रय मानने में अनेक दोष होने के कारण उन गुणों के अतिरिक्त आश्रय के रूप में आत्मा का अनुमान भी किया जाता है।

आत्मा के उक्त स्वरूप की आलोचना करते हुये बौद्धों का कथन यह है कि गुण से भिन्न गुणी की सत्ता अप्रामाणिक तथा अनावश्यक है। देश, काल के व्यवधान से शून्य गुणों का समूह ही द्रव्य है और समूह ही अपने अन्तर्गत गुणों का आश्रय होता है। इस मान्यता के अनुसार आत्मा भी कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है अपितु ज्ञान आदि गुणों का क्षणिक समुदाय अथवा क्षणिक आलय विज्ञान—'अहम्' इत्याकारक ज्ञान का प्रवाह-रूप है। आत्मा का यह स्वरूप प्रमाण-संगत तथा संसार के विषयों में मनुष्य की अत्यासक्ति का निरोधक है, अत एव आत्मा का यह स्वरूप ही मान्य एवं उपादेय है।

इस बौद्ध मत के विरोध में न्याय दर्शन की ओर से यह बात कही जाती है कि द्रव्य और आत्मा के विषय में बौद्धों की उक्त मान्यता लोकानुभव के विपरीत होने के कारण आदरणीय नहीं हो सकती। लोक में इस प्रकार का अनुभव सर्वसम्मत है कि 'जिस वस्तु को मैंने पहले देखा था, इस समय मैं उसका स्पर्श कर रहा हूँ"। इस अनुभव की उपपत्ति तभी हो सकती है जब देखने और स्पर्श करने वाला व्यक्ति एक और स्थायी हो, एवं देखी और स्पर्श की जाने वाली वस्तु भी एक और स्थायी हो। बौद्ध मत में ये दोनों ही बातें सम्भव नहीं हैं, क्योंकि देखने के समय का आलय विज्ञान क्षणिक होने के कारण स्पर्श करने के समय तक नहीं रह सकता और इस मत में देखना और स्पर्श करना आलय विज्ञान का ही कार्य है। इसी प्रकार देखी और स्पर्श की जाने वाली वस्तु भी एक नहीं हो सकती, इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि बौद्धमत में सब वस्तुओं के क्षणिक होने से दिखने वाली वस्तु स्पर्श होने के समय तक नहीं टिक सकती, दूसरा यह कि इस मत में गुण से भिन्न द्रव्य का अस्तित्व न होने से दिखने वाली वस्तु होगी रूप और स्पर्श की जाने वाली वस्तु होगी स्पर्श, और रूप एवं स्पर्श एक दूसरे से भिन्न हैं। अतः जिस वस्तु को देखा जाता है उसका स्पर्श नहीं किया जा सकता, फलतः इस तथ्य को विवश होकर स्वीकार करना होगा कि देखने और सुनने वाला आत्मा एक स्थायी द्रव्य है तथा रूप और स्पर्श का आश्रयभूत पदार्थ भी रूप और स्पर्श से भिन्न एक स्थायी द्रव्य है, यह द्रव्य ही रूप के सम्बन्ध से चक्षु द्वारा दृष्ट तथा स्पर्श के सम्बन्ध से त्वक द्वारा स्पृष्ट होता है।

इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि रूप और स्पर्श में परस्पर भेद नहीं है, दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, अतः अतिरिक्त द्रव्य का अस्तित्व न मानने पर भी चक्षु और त्वक् द्वारा एक ही वस्तु का अनुभव किया जाना सम्भव है। इसी प्रकार वस्तुमात्र के क्षणिक होने के कारण पूर्वकाल में देखे

गये और वर्तमान काल में स्पर्श किये जाने वाले पदार्थ में व्यक्तिगत ऐक्य न होने पर भी उनके सन्तान में ऐक्य होने के कारण उनमें ऐक्य का अनुभव और व्यवहार भी सम्भव है, अतः गुण से भिन्न गुणी का स्थायी अस्तित्व न होने पर भी 'जिसे पहले देखा था उसे इस समय स्पर्श करता हूँ' इस प्रकार के अनुभव और व्यवहार के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि रूप और स्पर्श में यदि भेद न होता तो अन्धे को भी नील, पीत आदि रूप का प्रत्यक्ष होता, पर ऐसा नहीं होता, अतः दोनों की परस्पर भिन्नता अनिवार्य है। इस पर यदि यह कहा जाय कि जैसे रूप और स्पर्श के आश्रयभूत द्रव्य के एक होने पर भी अन्धे को स्पर्श द्वारा ही उसका प्रत्यक्ष होता है, रूप द्वारा नहीं होता, उसी प्रकार रूप और स्पर्श के एक होने पर भी अन्धे को स्पर्शात्मना ही उसका प्रत्यक्ष होगा, रूपात्मना नहीं होगा। इस प्रकार उपपत्ति हो जाने से रूप और स्पर्श में भेद की कल्पना आवश्यक है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर रूपत्व और स्पर्शत्व में सांकर्य हो जायगा। जैसे रूपविशेष-मणिप्रभा में रूपत्व है, स्पर्शत्व नहीं है और स्पर्शविशेष—वायु में स्पर्शत्व है, रूपत्व नहीं है किन्तु रूपस्पर्शविशेषात्मक पृथ्वी में दोनों विद्यमान हैं। इस पर यदि यह कहा जाय कि जातिबाधक होने से जातिवादी नैयायिक के लिये सांकर्य दोष हो सकता है पर जो लोग जातिवादी नहीं हैं किन्तु जाति के स्थान में अपोह—अतद्व्यावृत्ति मानते हैं, उनके लिये सांकर्य दोष नहीं है। अतः अपोहवादियों के प्रति सांकर्य का उद्भावन असंगत है, तो यह कथन उचित नहीं है, क्यों कि रूपत्व और स्पर्शत्व को अतद्व्यावृत्तिस्वरूप मानने पर स्पर्श में रूपत्व के और रूप में स्पर्शत्व के समावेश की सम्भावना ही नहीं हो सकती। स्पर्श के साथ रहने वाला रूप अस्पर्श नहीं है और रूप के साथ रहने वाला स्पर्श अरूप नहीं है, अतः एक आश्रय में रहने वाले रूप एवं स्पर्श में अरूपव्यावृत्ति और अस्पर्शव्यावृत्ति के समावेश में कोई बाधा नहीं है। यह कहना भी अतिरिक्त द्रव्य का अस्तित्व न मानने वाले अपोहवादी बौद्ध के लिये सम्भव नहीं है, क्योंकि द्रव्य के अभाव में रूप और स्पर्श का किसी एक आश्रय में रहना असम्भव है।

जैसे उक्त कारण से गुण और गुणी में भेद मानना आवश्यक है वैसे ही उनमें अभेद का कोई साधक न होने के कारण भी उनमें भेद मानना अपरिहार्य है। यदि यह कहा जाय कि गुण और गुणी के सहोपलम्भ का नियम ही उनमें अभेद का साधक है, क्योंकि जो पदार्थ परस्पर भिन्न होते हैं उनमें सहोपलम्भ का नियम नहीं होता किन्तु एक का उपलम्भ न होने की दशा में

भी दूसरे का उपलम्भ-प्रत्यक्ष होता है, जैसे गौ और अश्व में परस्पर भेद होने से एक के अप्रत्यक्षकाल में भी दूसरे का प्रत्यक्ष होता है। पर गुण और गुणी में एक के अप्रत्यक्षकाल में दूसरे का प्रत्यक्ष कदापि नहीं होता, किन्तु दोनों का प्रत्यक्ष नियमेन साथ ही होता है, अतः उनमें अभेद मानना ही न्यायसंगत है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि गौ और अश्व में जो सहोपलम्भ के नियम का अभाव है वह उनकी परस्पर भिन्नता के कारण नहीं है अपितु गौ और अश्व के उपलम्भ की सामग्रियों के सन्निधान में नियम न होने के कारण है। इसी प्रकार गुण और गुणी के सहोपलम्भ का नियम भी उनकी परस्पर अभिन्नता के कारण नहीं है किन्तु उन दोनों के उपलम्भ की सामग्रियों के नियमित सन्निधान के कारण है। अतः सहोपलम्भ का नियम उपलभ्यमान वस्तुवों की अभिन्नता का अप्रयोजक है। दूसरी बात यह है कि गुण और गुणी में सहोपलम्भ का नियम सर्वत्र सिद्ध भी नहीं है। जैसे जिस मनुष्य का नेत्र पित्तदोष से ग्रस्त होता है उसे स्वभावतः श्वेत भी शङ्ख पीत दिखाई देता है, इस प्रकार शङ्ख के स्वगत रूप श्वेत की अप्रत्यक्षतादशा में भी शङ्ख का प्रत्यक्ष होने से गुणी शङ्ख और उसके श्वेत रूपात्मक गुण में सहोपलम्भ का नियम नहीं है। इस पर यह कहना कि पीत दिखाई देने वाला शङ्ख पीत ही होता है, श्वेत नहीं होता, ठीक नहीं है, क्योंकि जो शङ्ख दोषयुक्त नेत्र वाले मनुष्य को पीत दिखाई देता है वही निर्दोष नेत्र वाले मनुष्य को श्वेत दिखाई देता है। यदि यह कहा जाय कि उस समय वहाँ पीत और श्वेत दो शङ्ख होते है, उनमें पीत शङ्ख का प्रत्यक्ष सदोष नेत्र से तथा श्वेत शङ्ख का प्रत्यक्ष निर्दोष नेत्र से होने का नियम है, अतः एक काल में एक व्यक्ति को दो शङ्खों का प्रत्यक्ष नहीं होता, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि दो शङ्ख की सत्ता मानने पर उक्त कल्पना के अनुसार नेत्र से दो शंख का प्रत्यक्ष न होने पर भी त्वक् से तो दो शङ्ख का प्रत्यक्ष होना ही चाहिए पर ऐसा नहीं होता, इस लिए सदोष निर्दोष नेत्र वाले दो मनुष्यों के पीत और श्वेत रूप में शङ्ख के प्रत्यक्ष के समय पीत और श्वेत दो शङ्खों के अस्तित्व की कल्पना संगत नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि गुण और गुणी में समानदेशता और समानकालता का नियम है, अतः उनमें अभेद मानना आवश्यक है, क्योंकि जिन वस्तुओं में परस्पर भेद होता है उनमें समानदेशता और समानकालता का नियम नहीं होता, किन्तु वे भिन्न देश और भिन्नकाल में भी रहती हैं जैसे हाथी, घोड़े आदि। पर गुण और गुणी तो नियम से एकदेश और एककाल में ही रहते हैं, इस लिये उनकी परस्पर अभिन्नता अनिवार्य है, तो यह कहना ठीक नहीं है,

क्योंकि गुण और गुणी की समानदेशता असिद्ध है। जैसे रक्तरूपात्मक गुण घट द्रव्य में आश्रित होता है और घट भूतल में आश्रित होता है, रक्त और घट में अभेद मानने पर दोनों को भूतलाश्रित मानना होगा और उस दशा में श्याम भूतल में रक्तघट के अस्तित्व के समय भूतल में भी रक्तिमा का प्रत्यक्ष अप्रतीकार्य हो जायगा। इसके परिहारार्थ रक्तरूप को घटाश्रित और घट को भूतलाश्रित मानना आवश्यक होने के कारण गुण और गुणी की समानदेशता सिद्ध नहीं हो सकती। हाँ, बौद्धमत में गुण ओर गुणी में समानकालता अवश्य है पर केवल समानकालता से अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती, क्यों कि यदि केवल समानकालता ही अभेद का साधक होगी तो मनुष्य के दो पैर, दो हाथ, दो कान आदि अङ्गों में भी अभेद हो जायगा, जो कथमपि मान्य नहीं हो सकता है।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस प्रकार गुण और गुणी में भेद माने विना 'जिस वस्तु को पहले देखा था, इस समय उसे स्पर्श कर रहा हूँ' इस अनुभव की उपपत्ति नहीं होती उसी प्रकार पूर्वकाल में देखी गई वस्तु और वर्तमान में स्पर्श की जाने वाली वस्तु में ऐक्य माने विना भी उक्त अनुभव की उपपत्ति नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में जो यह बात पहले कही गई है कि दोनों वस्तुओं में व्यक्तिगत भेद होने पर भी एक सन्तान के अन्तर्गत होने से उक्त अनुभव की उपपत्ति हो सकती है, ठीक नहीं है, क्योंकि सन्तानी—सन्तानान्तर्गत व्यक्तियों से सन्तान की पृथक् सत्ता प्रामाणिक नहीं है और सन्तानी अनेक हैं, अतः सन्तान को एक कहना संगत नहीं हो सकता। यदि इस पर यह कहा जाय कि जो वस्तुयें किसी एक धर्म का आश्रय होती हैं तथा उस धर्म के किसी आश्रय का उपादान वा उपादेय होती हैं वे एक सन्तान के अन्तर्गत कही जाती हैं, जैसे पूर्वकाल में दृष्ट घट वर्तमान काल में स्पृश्यमान घट एक धर्म घटत्व का आश्रय तथा उस धर्म के आश्रय पूर्ववर्ती घट का उपादेय एवं उत्तरवर्ती घट का उपादान होने से एक घट-सन्तान के अन्तर्गत हैं, तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि बौद्धमत में घटत्व आदि को भावात्मक स्थायी धर्म न मानकर अतद्व्यावृत्तिरूप माना जाता है पूर्वकाल में दृष्ट घट से वर्तमान में स्पृश्यमान घट अतद्व्यावृत्त नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वदृष्ट घट से वर्तमान में स्पृश्यमान घट के व्यक्तिगत रूप से भिन्न होने के कारण तत् होगा पूर्वदृष्ट घट और अतत् होगा वर्तमान में स्पृश्यमान घट, अतः वह स्वयं अतद्व्यावृत्त न होगा किन्तु पूर्वदृष्ट घट ही अतद्व्यावृत्त होगा, फलतः घटत्व द्वारा सन्तान की व्याख्या नहीं हो सकती। इस के उत्तर में यह कहना कि वर्तमान में स्पृश्यमान घट के पूर्वदृष्ट घट से व्यक्तिगत रूप से तद्व्यावृत्त होने पर भी घटत्वरूप से उसके अतद्व्यावृत्त होने

में कोई बाधा नहीं हैं, ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि जब घटत्व अतद्व्यावृत्ति से भिन्न नहीं है तब घटत्वरूप से अतद्व्यावृत्त होने का अर्थ होगा अतद्-व्यावृत्तिरूप से अतद्व्यावृत्तिमान् होना, जो कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। इस लिये यह स्पष्ट है कि पूर्व दृष्ट वस्तु और वर्तमान में स्पृश्यमान वस्तु में व्यक्तिगत ऐक्य माने विना किसी भी दृष्टि से उक्त अनुभव की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

उक्त अनुभवकी उपपत्ति के लिये जिस प्रकार भिन्न काल में देखी और स्पर्श की जानेवाली वस्तु में व्यक्तिगत ऐक्य मानना आवश्यक है उसी प्रकार उस वस्तु को पूर्वकाल में देखने वाले तथा कालान्तर में उसीको स्पर्श करने वाले मनुष्य में भी व्यक्तिगत ऐक्य मानना आवश्यक है, क्योंकि यदि दर्शन और स्पर्शन भिन्न-भिन्न व्यक्ति को होगें तो दर्शन करने वाले को स्पर्शन का और स्पर्शन करने वाले को दर्शन का पता न होनेसे 'जिसे पहले मैंने देखा था उसे इस समय मैं स्पर्श कर रहा हूँ' इस अनुभवकी उपपत्ति सम्भव न होगी। देखने वाले और स्पर्श करने वाले मनुष्य में व्यक्तिगत भेद होने पर भी सन्तान के ऐक्य से उसकी उपपत्तिकी सम्भाव्यता भी नहीं हो सकती, क्योंकि भावात्मक अनुगत स्थायी धर्म के अभावमें उक्तरीति से एक सन्तान की अन्तर्गतता का समर्थन नहीं किया जासकता।

उक्त सारी बातों के निष्कर्षस्वरूप गुणी को गुण से भिन्न एवं स्थायी रूप में स्वीकार करने को विवश होने के कारण न्यायसम्मत आत्मा की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

अनात्मवादी दार्शनिकों की ओर से न्याय-सम्मत आत्मा के ऊपर एक और बड़ा कठोर प्रहार किया जाता है, वह यह कि न्यायदर्शन ने जिस आत्मा को मान्यता दे रखी है, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्यों कि वह अनुपलब्धि से बाधित है, उनका आशय यह है कि जो पदार्थ सत् होता है वह अवश्य उपलब्ध होता है। अतः जिसकी उपलब्धि नहीं है वह असत् है। न्यायशास्त्र में वर्णित नित्य, विभु, द्रव्य-स्वरूप आत्मा की उपलब्धि नहीं होती, अतः वह असत् है। अनुपलब्धि असत्ता की बहुत बड़ी कसौटी है, यदि उसकी उपेक्षा कर दी जायगी तो किसी भी अनुपलभ्यमान पदार्थ को अस्वीकार न किया जा सकेगा, फलतः कूर्मरोम, शशशृङ्ग, कच्छपीक्षीर, आकाशकुसुम, बन्ध्यापुत्र आदि अनन्त अनुपलभ्यमान पदार्थों का अस्तित्व गले पतित होगा।

इस प्रहार के प्रतीकारमें नैयायिकों का कथन यह है कि अनुपलब्धि से आत्मा के असत्त्व का साधन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुपलब्धि का

ऐसा निर्वचन जिसके अनुसार वह असत्त्व का साधक हो सके, अशक्य है, जैसे अनुपलब्धि का अर्थ यदि ज्ञान सामान्याभाव हो तो वह आत्मा के विषय में स्वयं असिद्ध है, क्योंकि 'आत्मा नहीं है' आत्मा का यह निषेधग्राही ज्ञान अनात्मवादी को भी मान्य है, यदि यह ज्ञान उसे होगा तो वह आत्मा के असत्त्व की बात भी कैसे कर सकेगा ? फलतः ज्ञानसामान्याभाव के असिद्ध होने से उससे आत्मा के असत्त्व का साधन नहीं हो सकता । यदि अनुपलब्धि का अर्थ ज्ञानसामान्याभाव न कर प्रत्यक्षज्ञानाभाव किया जाय तो उसमें भी अनेक दोष हैं, जैसे प्रत्यक्षज्ञानाभाव का अर्थ क्या होगा, मनुष्य मात्र के प्रत्यक्ष-ज्ञान का अभाव अथवा किसी एक मनुष्य के प्रत्यक्षज्ञान का अभाव । यदि पहला अर्थ लिया जाय तो उसे आत्मा में सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस बात को प्रमाणित करने का कोई उपाय नहीं है कि संसार में किसी भी मनुष्य को आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो वह असत्त्व का व्यभिचारी है, क्यों कि संसार में ऐसे असंख्य पदार्थ हैं जो देश, काल की दूरी के कारण एक मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय न होने पर भी मान्य हैं, इस प्रकार अनुपलब्धि की निर्दोष व्याख्या सम्भव न होने से उसके द्वारा आत्मा के असत्त्व का साधन नहीं किया जा सकता,

इसके अतिरिक्त आत्मा के असत्त्व का साधन करने में दूसरी बाधा यह है कि जिस असत्त्व का साधन करना है उसकी कोई निर्दोष व्याख्या नहीं हो सकती, जैसे असत्त्व का अर्थ यदि अत्यन्ताभाव किया जाय तो उसके साधन का प्रयास व्यर्थ होगा, क्यों कि न्यायमत के अनुसार नित्य द्रव्य के अनाश्रित होने से आत्मा का अत्यन्ताभाव स्वतः सर्वत्र सिद्ध है, यदि असत्त्व का अर्थ प्रागभाव और ध्वंस किया जाय और तदनुसार शरीर के साथ आत्मा का जन्म और उसके अवसान के साथ आत्मा का अवसान माना जाय तो कृतहान और अकृताभ्यागम ये दो महान् दोष प्रसक्त होंगे । तात्पर्य यह है कि यदि शरीर के साथ आत्मा का जन्म होगा, शरीर के पूर्व आत्मा का अस्तित्व न होगा तो जन्मकाल से ही मनुष्य को जो अनेक प्रकार के सुख, दुःख का भोग होने लगता है उसे अकृताभ्यागम-अकृत कर्मों का ही फल मानना होगा, इसी प्रकार यदि शरीर के अवसान के साथ ही आत्मा का भी अवसान होगा तो कृतहान—जीवन में किये गये जिन कर्मों का फल जीवनकाल मे नहीं प्राप्त हुआ, उनका नैरर्थक्य होगा । इन दोनों दोषों की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती, क्यों कि इन दोषों का परिहार न होने पर मनुष्य के मन में यह बात बैठ सकती है कि कर्म न करने पर भी कर्म का फल प्राप्त हो सकता है और किये हुये कर्म भी व्यर्थ हो सकते हैं, और जब यह बात मनुष्य के मन में घर कर लेगी तब वह

कर्म-विमुख हो जायगा और उस दशा में समाज-रचना तथा राष्ट्र निर्माण का कार्य असम्भव हो जायगा, जगत् की सारी व्यवस्था ही संकट में पड़ जायगी।

असत्त्व का अर्थ देश एवं काल के साथ सम्बन्ध का सामान्याभाव भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि न्यायमतानुसार बुद्धि में आरूढ होने वाले प्रत्येक पदार्थ के किसी न किसी देश एवं काल से अवश्यमेव सम्बद्ध होने के कारण उक्त प्रकार के असत्त्व की कहीं प्रसिद्धि नहीं हो सकती। अतः किसी पदार्थ में उक्त असत्त्व की साधनता का ज्ञान असम्भव होने के कारण उसका साधन अशक्य है।

निःस्वरूपता को भी असत्त्व का अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्येक तत्त्वचिन्तक द्वारा आत्मा का कोई न कोई स्वरूप स्वीकार किये जाने के कारण उसकी निःस्वरूपता बाधित है।

प्रमेयत्वामाव अर्थात् यथार्थ ज्ञान का विषय न होना भी असत्त्व का अर्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि आत्मवादी को आत्मा के विषय में जो ज्ञान है वह यदि यथार्थ हो तो आत्मा में प्रमेयत्वाभाव बाधित है और यदि वह यथार्थ न हो तो आत्मवादी द्वारा माना जाने वाला आत्मविषयक ज्ञान यथार्थ होगा, और उस स्थिति में भी आत्मा में प्रमेयत्वाभाव बाधित होगा।

असत्त्व का अर्थ सत्ता जाति का अभाव भी नहीं माना जा सकता, क्यों कि उस जाति से शून्य सामान्य, विशेष आदि अनेक पदार्थ न्यायमत में स्वीकृत है जिन्हें असत् नहीं माना जाता।

यदि यह कहा जाय कि असत्त्व का एक पारिभाषिक अर्थ विवक्षित है और वह है अनुपादेयता-अवाञ्छनीयता। कहने का तात्पर्य यह है कि भले आत्मा का अस्तित्व युक्तिसम्मत हो और वह नित्य विभुद्रव्य-रूप भी हो, पर उस प्रकार का आत्मा मोक्षार्थी के लिये अनुपादेय-अवाञ्छनीय है, क्योंकि जब मनुष्य आत्मा को—अपने आपको नित्य-चिरस्थायी अथवा सर्वदा रहने वाला समझेगा तो अपने को सुखभोग के भौतिक साधनों से सदैव सम्पन्न बनाये रखने का प्रयत्न करेगा, उसके इस प्रयत्न में जो लोग सहायक होंगे उनसे वह राग-स्नेह करेगा और जो बाधक होंगे उनसे द्वेष करेगा, इस प्रकार राग, द्वेष से प्रेरित हो वह भले बुरे का विवेक न कर उचित अनुचित कार्यों में सदैव व्यस्त रहेगा, उन कार्यों से बनने वाली वासनावों में बँधता रहेगा और उन वासनावों के अनुसार जन्म-मृत्यु के चक्र में निरन्तर पिसता रहेगा, जगत् के वैषयिक क्षेत्र के बाहर उसकी दृष्टि कभी जायगी ही नहीं फलतः वह

मोक्ष के लिये कदापि प्रयत्नशील न हो सकेगा। अतः मनुष्य को यदि इस संसार-चक्र से मुक्ति अपेक्षित है, संसार के राग द्वेषमय विषाक्त वातावरण से दूर होने की यदि उसे कामना है तो उसे आत्मा के विषय में-अपने आपके सम्बन्ध में दूसरे प्रकार की धारणा बनानी होगी। उसे इस सत्यको समझना होगा और इस निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि आत्मा का कोई वास्तव अस्तित्व नहीं है, वह तो जीवित शरीर में विषयेन्द्रिय के सन्निधान से क्षणभर के लिये स्फुरित होने वाली चेतना का एक नश्वर सन्तान अथवा विभ्रान्त मानवकी एक मनःकल्पनामात्र है। अतः इस मिथ्या कल्पनाको जीवित बनाये रखने के लिये जगत् के दुखःमय संघर्षों में पड़ना महान् अज्ञान है। जब मनुष्य के मन मे इस प्रकार के सद्विचार का उदय होगा तो वह अनायास ही संसार के सर्वविध व्यापार से अपना नाता तोड़ लेगा और अपनी आत्म-भावना को परिपक्व बनाता हुआ शनैः शनैः जगत् के समग्र बन्धनों से सदा के लिये मुक्त हो जायगा।

असत्त्व की यह पारिभाषिक व्याख्या भी ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा को नित्य एवं निसर्ग निर्मल माने विना मुक्त होने की भावना का उन्मेष ही नहीं हो सकता। मनुष्य जब तक यह समझता रहेगा कि उसका जन्म और जीवन शरीर से बंधा है, शरीर के साथ ही वह पैदा होता है और उसी के साथ समाप्त हो जाता है, शरीर पर घटित होने वाली समस्त घटनायें उसे प्रभावित करती हैं, शरीर के लिये जो वस्तुयें वाञ्छनीय वा अवाञ्छनीय हैं वही उसके लिये भी वाञ्छनीय वा अवाञ्छनीय हैं, तब तक वह शरीर से परे अपने सम्बन्ध में कुछ सोचही नहीं सकता, मोक्ष का यह महनीय विचार उसके मानस में अङ्कुरित ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार अपने विषय में उसकी यदि यह धारणा होगी कि उसकी अपनी कोई वास्तव एवं शाश्वत सत्ता नहीं है, वह अज्ञान वा वासना द्वारा खड़ा किया गया क्षणभङ्गुर चेतना का विविध विषयों से उपप्लुत एक अशाश्वत प्रवाह-मात्र है, तब भी उसके हृदय में मुक्तिमनीषा का उन्मीलन नहीं हो सकता।

आत्मा के सम्बन्ध में ये समस्त दृष्टियां नास्तिक्य-दृष्टि हैं। नास्तिक्य-दृष्टि से दग्ध हृदय में सद्विचार और सदाचार के अङ्कुर कभी नहीं उग सकते, नास्तिक की भोगलिप्सा कभी नहीं शान्त हो सकती।

इस लिये यह सुनिश्चित है कि मोक्ष की सदिच्छा मनुष्य के मानस में तभी उदित होगी जब उसकी यह धारणा दृढ़ होगी कि वह एक स्वतन्त्र एवं सहज शुद्ध, शाश्वत, प्रामाणिक पदार्थ है, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि उसके स्वरूपानुस्यूत धर्म नहीं हैं, जगत् की इष्ट-अनिष्ट वस्तुवों के सम्पर्क से अथवा जन्म-

मृत्यु की घटनावों से उसके निजी स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसमें इन धर्मों की अनुभूति तो केवल इस लिये होती है कि उसने अनादि काल से अपने सच्चे स्वरूप को विस्मृत कर अपने आप को देहेन्द्रियसंघात से अभिन्न मान रखा है। अतः उसका वास्तव हित देह आदि के साथ सम्पर्क त्याग और अपने यथार्थ स्वरूप की पहचान से ही हो सकता है।

भिन्नक्षणेष्वपि यदि क्षणता प्रकल्प्या
क्लृप्तेषु साऽस्त्विति जगत्क्षणिकत्वसिद्धिः।
तद्द्रव्यता तु विजहाति कदापि नो तत्-
सन्तानतामिति तवायमपक्षपातः॥ ६२॥

न्याय दर्शन में आत्मा को एकान्त नित्य और बौद्ध दर्शन में एकान्त क्षणिक माना गया है, किन्तु भगवान् महावीर का स्याद्वादशासन नितान्त पक्षपात-रहित है। अतः उसके अनुसार आत्मा न केवल नित्य और न केवल क्षणिक है अपितु अपेक्षाभेद से नित्य भी है और साथ ही क्षणिक भी है। तात्पर्य यह है कि आत्मा शब्द किसी एक व्यक्ति का बोधक न होकर एक ऐसे अर्थसमूह का बोधक है जिसमें कोई एक अर्थ नित्य और अन्य अर्थ क्षणिक हैं, जो अर्थ नित्य है उसका नाम है द्रव्य और जो अर्थ अनित्य है उन सब का नाम है पर्याय, इस प्रकार आत्मा द्रव्य, पर्याय उभयात्मक है और द्रव्यात्मना नित्य तथा पर्यायात्मना क्षणिक है।

प्रख्यात नैयायिक दीधितिकार श्रीरघुनाथशिरोमणि ने क्षण को अतिरिक्त पदार्थ और क्षणिक माना है, इस मत की आलोचना करते हुये ग्रन्थकार का कथन यह है कि नवीन धर्मी और धर्म की कल्पना करने की अपेक्षा पूर्वतः सिद्ध पदार्थों में धर्ममात्र की कल्पना में लाघव होता है, अतः क्षणनामक अनन्त अतिरिक्त पदार्थ मानकर उन सबों में क्षणत्व की कल्पना करने की अपेक्षा प्रथमतः सिद्ध समस्त पदार्थों में ही क्षणत्व की कल्पना में लाघवमूलक औचित्य है। फलतः संसार के समस्त स्थिर पदार्थों के क्षणरूप होने से आत्मा की भी क्षणरूपता—क्षणिकता अनिवार्य है।

प्रश्न होगा कि स्थिरत्व और क्षणिकत्व ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी हैं फिर एक पदार्थ में इन दोनों का समावेश कैसे होगा? उत्तर यह है कि संसार के प्रत्येक पदार्थ में दो अंश होते हैं एक स्थायी और एक क्षणिक, स्थायी अंश का नाम है सामान्य वा द्रव्य और क्षणिक अंश का नाम है विशेष वा पर्याय, ये दोनों अंश परस्पर में न तो एकान्ततः भिन्न होते हैं और न एकान्ततः अभिन्न। अतः पर्याय नामक अंश के क्षणिक होते हुये भी द्रव्यात्मना

स्थायी और द्रव्यनामक अंश के नित्य होते हुये भी पर्यायात्मना क्षणिक होता है। इस प्रकार संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्यात्मक रूप में स्थायी और अपने पर्यायात्मक रूप में क्षणिक होता है।

जैन दर्शन में माना गया पदार्थों का यह द्रव्य-अंश बौद्ध दर्शन में माने गये सन्तान के समान है। अन्तर केवल इतना है कि बौद्ध दर्शन का सन्तान सन्तानी क्षणों से पृथक् अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता, परन्तु जैन दर्शन का द्रव्य पर्यायों से पृथक् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी रखता है। यही कारण है कि जैन दर्शन का तद्द्रव्यत्व किसी भी उभय वा उभयाधिक पदार्थ में आश्रित नहीं होता, पर बौद्ध दर्शन का तत्सन्तानत्व उस सन्तान के घटक दो वा दो से अधिक क्षणों में आश्रित होता है।

न द्रव्यमेव तदसौ समवायिभावात्
पर्यायताऽपि किमु नात्मनि कार्यभावात्।
उत्पत्तिनाशनियतस्थिरताऽनुवर्ति
द्रव्यं वदन्ति भवदुक्तिविदो न जात्या ॥ ६३ ॥

जिस न्याय से आत्मा एकान्ततः नित्य नहीं है उसी न्याय से वह एकान्ततः द्रव्य भी नहीं है, किन्तु स्वगत गुणों का समवायिकारण होने से यदि वह द्रव्य है तो जन्म, जरा आदि अनन्त कार्यों का आस्पद होने से वह पर्याय भी है और यही कारण है जिससे वह मोक्षसाधनों के अनुष्ठान द्वारा संसारी रूप से निवृत्त होकर सिद्ध-मुक्त रूप से प्रादुर्भूत हो सकता है। यदि वह केवल द्रव्य रूप ही होगा, पर्याय रूप न होगा तो एक रूप से उसकी निवृत्ति और अन्य रूप से उसकी प्रादुर्भूति न हो सकेगी।

दूसरी बात यह है कि कोई भी पदार्थ समवायिकारण होने से द्रव्य नहीं हो सकता किन्तु परिणामीकारण होने से ही द्रव्य हो सकता है, इसका कारण यह है कि जिस मत में समवायिकारण से कार्य की उत्पत्ति होती है उस मत में कार्य और कारण में परस्पर भेद माना जाता है। फलतः उस मत में यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत् होता है अथवा असत्। यदि सत् होगा तो उसका जन्म मानना असंगत होगा। क्योंकि किसी वस्तु को अस्तित्व में लाने के लिये ही उसके जन्म की आवश्यकता होती है। फिर जिस वस्तु का अस्तित्व पहले से ही सिद्ध है उसका जन्म मानना व्यर्थ है। इसी प्रकार कार्य यदि अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् होगा तो भी उसका जन्म मानना असंगत होगा क्योंकि जो स्वभावतः असत् है उसे जन्म-द्वारा भी अस्तित्व का लाभ नहीं हो सकता। परिणामी कारण से कार्य की उत्पत्ति मानने पर उक्त प्रश्न के उठने का अवसर नहीं होता। क्योंकि परिणामी

कारण का अपने कार्यों से भेद नहीं होता। फलतः सभी कार्य अपने परिणामी कारण के रूप में पहले से ही अवस्थित रहते हैं। उनका जन्म उन्हें अस्तित्व प्रदान करने के लिये नहीं होता किन्तु अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये होता है।

यदि यह कहा जाय कि समवायिकारण और परिणामी कारण में कोई भेद नहीं होता क्योंकि नैयायिक जिसे समवादिकारण कहते हैं, जैन उसी को परिणामी कारण कहते हैं। अतः यह कहना उचित नहीं हो सकता कि कोई पदार्थ समवायिकारण होने से द्रव्य नहीं हो सकता किन्तु परिणामी कारण होने से ही द्रव्य हो सकता है। तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उनके लक्षण से ही उनका भेद स्पष्ट है। जैसे जो कार्य अपने जिस कारण में समवाय सम्बन्ध से आश्रित होता है वह कारण उसका समवायिकारण होता है जैसे कपाल घट का, तन्तु पट का। इस लक्षण के अनुसार एक सर्वथा नवीन वस्तु अपने विशेष कारण में समवायनामक एक अतिरिक्त सम्बन्ध से अस्तित्व प्राप्त करती है। परिणामी कारण उसे कहा जाता है जो क्रम से प्रादुर्भूत होने वाले अपने विविध रूपों में पूर्ववर्ती रूप का त्याग और उत्तरवर्ती रूप का उपादान करते हुए उन सभी रूपों के बीच अपने मौलिक रूप को अक्षुण्ण बनाये रहता है। जैसे मिट्टी अपने पूर्ववर्ती पिण्डाकार को छोड़ घटाकार को प्राप्त करती है और दोनों आकारों में अपने मौलिक मिट्टी-रूप को अक्षुण्ण बनाये रहती है और इसी लिये वह पिण्ड, घट आदि का परिणामी कारण होती है। इस लक्षण के अनुसार यह निर्विवाद है कि परिणामी कारण से उत्पन्न होने वाला कार्य उत्पत्ति से पूर्व एकान्ततः सत् अथवा असत् नहीं होता अपि तु अपेक्षा भेद से सत् और असत् उभयात्मक होता है।

यदि यह कहा जाय कि किसी पदार्थ का द्रव्य होना समवायिकारणता वा परिणामिकारणता के अधीन नहीं है किन्तु द्रव्यत्व जाति के अधीन है। जिसमें द्रव्यत्व जाति रहेगी वह द्रव्य होगा और जिसमें वह नहीं रहेगी वह द्रव्य नहीं होगा, तो यह भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि भगवान् महावीर के शासनानुसार वही पदार्थ द्रव्य होता है जो एक ही समय में अपने किसी रूप से उत्पन्न तथा किसी रूप से विनष्ट होता रहता है और साथ ही अपने किसी रूप से सुस्थिर भी बना रहता है। द्रव्यत्व जाति के सम्बन्ध से किसी पदार्थ का द्रव्य होना स्याद्वादशासनकी दृष्टिमें संगत नहीं हो सकता क्योकि उसकी दृष्टि में द्रव्यत्व जाति स्वयं ही असिद्ध है। न्यायमत में अनुगत प्रतीति, अनुगत व्यवहार और अनुगत कार्यकारणभावसे जाति की सिद्धि की जाती है, किन्तु द्रव्यत्वकी सिद्धि इनमें

किसी से नहीं हो सकती क्योंकि अनुगत प्रतीति से यदि द्रव्यत्व की सिद्धि मानी जायगी तो अतीन्द्रिय द्रव्यों में उसकी अनुगत प्रतीति न होने से उनमें द्रव्यत्व का अभाव होगा। अनुगत व्यवहार से भी द्रव्यत्व जाति की सिद्धि नहीं मानी जा सकती क्योंकि द्रव्य के अनुगत व्यवहार में वादियों का ऐकमत्य नहीं है। कार्यकारणभाव-द्वारा भी द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं मानी जा सकती क्योंकि समवाय सम्बन्ध से जन्यभाव के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य कारण है। इस प्रकारका कार्यकारणभाव निष्प्रयोजन होने से अमान्य है। इस सन्दर्भ में यह कहना कि अद्रव्य में भावकार्य की उत्पत्ति का परिहार करने के लिये उक्त कार्य-कारणभाव को मानना आवश्यक है, ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यका जन्म उसी वस्तु में होता है जिसमें असत्कार्यवादी के अनुसार कार्यका प्रागभाव होता है वा सत्कार्यवादी अथवा सदसत्कार्यवादी के अनुसार कार्यका तादात्म्य होता है। अद्रव्यमें किसी कार्यका प्रागभाव वा तादात्म्य नहीं होता, अतः उक्त कार्यकारण-भाव के विना भी अद्रव्यमें कार्यकी उत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती। फलतः द्रव्यत्व जातिकी सिद्धि में कोई प्रमाण न होने से उसके सम्बन्ध से किसी पदार्थ को द्रव्य और उसके असम्बन्ध से किसी पदार्थ को अद्रव्य नहीं कहा जा सकता। निष्कर्ष यह है कि परिणामी कारण होना ही द्रव्य होने की पहचान है और परिणामी कारण उक्त रीति से एकान्ततः द्रव्यरूप ही नहीं हो सकता। अतः आत्मा भी परिणामी कारण होने से द्रव्य तो है पर केवल द्रव्य ही नहीं है अपितु द्रव्य, पर्याय उभयात्मक है।

नाशोद्भवस्थितिभिरेव समाहृताभि-
र्द्रव्यत्वबुद्धिरिति सम्यगदीदृशस्त्वम्।
एकान्तबुद्ध्यधिगते खलु तद्विधान-
मात्मादिवस्तुनि विवेचकलक्षणार्थः॥ ६४॥

भगवान् महावीर की यह दृष्टि नितान्त समीचीन है कि उत्पत्ति, विनाश तथा ध्रौव्य-स्थायित्व के समाहार से ही द्रव्यत्व की प्रतीति होती है और उसी से बौद्धों द्वारा एकान्ततः क्षणिक एवं नैयायिकों द्वारा एकान्ततः नित्य माने गये आत्मा में द्रव्यव्यवहार तथा उसी से आत्मा में इतरभेद अर्थात् जैनशासना-नुसार आत्मा के द्रव्य अंश मे उसके पर्याय अंश के भेद की सिद्धि होती है।

तात्पर्य यह है कि बौद्धदर्शन की एकान्त दृष्टि के अनुसार आत्मा प्रवहमान क्षणिकज्ञानरूप है और नैयायिक के अनुसार ज्ञान आदि गुणों का आश्रयभूत नित्य द्रव्य रूप है। भगवान् महावीर द्वारा दृष्ट द्रव्यलक्षण बौद्ध, नैयायिक दोनों द्वारा स्वीकृत आत्मा में उपपन्न होता है। जैसे बौद्धसम्मत आत्मा में प्रवाही ज्ञानकी अपेक्षा उत्पत्ति तथा विनाश का और प्रवाह की अपेक्षा ध्रौव्य

का समाहार सम्भव है। इसी प्रकार न्यायसम्मत आत्मा में ज्ञान आदि गुणों की अपेक्षा उत्पत्ति तथा विनाश का और आश्रय की अपेक्षा ध्रौव्य का समाहार हो सकता है। अतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप लक्षण से ही द्विविध आत्मा में द्रव्य व्यवहार की सिद्धि सम्भव है।

लक्षण के अन्य प्रयोजन इतरभेद की सिद्धि भी इसी लक्षण से सम्पन्न हो सकती है। जैसे जैन शासन के अनुसार आत्मा द्रव्यपर्याय उभयात्मक है अर्थात् बौद्धदर्शन का प्रवाह द्रव्य और प्रवाही ज्ञान पर्याय है एवं न्यायदर्शन का अनादि-निधन आश्रय द्रव्य तथा क्षणिक ज्ञानादि गुण पर्याय है। द्रव्य, पर्याय उभयात्मक इस आत्मा में पर्याय की अपेक्षा उत्पत्ति तथा विनाश और द्रव्य की अपेक्षा ध्रौव्य का समाहार होने से उत्पादव्ययध्रौव्य का समाहार रूप द्रव्यलक्षण अक्षुण्ण है, इस लक्षण द्वारा आत्मा में इतर भेद अर्थात् उसके द्रव्य अंश में पर्याय अंश का भेद निर्बाध रूप से सिद्ध हो सकता है। क्योंकि अशुद्ध द्रव्यार्थिक द्वारा उक्त लक्षणरूप हेतु का ज्ञान तथा उसमें इतरभेद की व्याप्ति का ज्ञान अनायासेन सम्भव हैं। पद्य के उत्तरार्द्ध-द्वारा उक्त रीति से आत्मा में द्रव्य-व्यवहार तथा इतरभेद की सिद्धि की सम्भाव्यता की ही सूचना दी गयी है ॥

नाशोद्भवस्थितिमति क्रमशो न शक्तो
द्रव्यध्वनिस्तदिह नो पृथगर्थताभृत्।
शब्दस्वभावनियमाद् वचनेन भेदः
स्वव्याप्यधर्मिगबहुत्वनिराकृतेश्च ॥ ६५ ॥

उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य को द्रव्यपद का अर्थ मानने पर यह प्रश्न होता है कि द्रव्य पद से उत्पत्ति आदि का बोध भिन्न शक्तियों द्वारा होता है वा एक शक्ति द्वारा, यदि भिन्न शक्तियों द्वारा माना जायगा तो हरि शब्द के समान द्रव्य शब्द नानार्थक हो जायगा और उस दशा में द्रव्य शब्द से उत्पत्ति आदि तीनों का सहबोध न होकर एक-एक के पृथक् बोध की आपत्ति होगी और यदि एक शक्ति द्वारा तीनों अर्थों का बोध माना जायगा तो जैसे पुष्पवन्त शब्द एक शक्ति से चन्द्र, सूर्य दो अर्थों का बोधक होने से द्विवचनान्त होता है उसी प्रकार एक शक्ति से तीन अर्थों का बोधक होने से द्रव्य शब्द के नियमेन बहुवचनान्त होने की आपत्ति होगी। इस श्लोक से इसी प्रश्न का समाधान किया गया है, जो इस प्रकार है—

जिस शब्द से जिन अर्थों का बोध एक साथ न होकर क्रम से होता है उन अर्थों में उस शब्द की भिन्न-भिन्न शक्ति मानी जाती है और वह शब्द उन अर्थों में नानार्थक माना जाता है; जैसे हरि शब्द से सिंह, वानर आदि

अर्थों का बोध क्रम से होता है अतः उन अर्थों में हरि शब्द की शक्ति भिन्न-भिन्न मानी जाती है और उन अर्थों में हरि शब्द नानार्थक माना जाता है। किन्तु जिस शब्द से जिन अर्थों का बोध क्रम से न होकर एक साथ ही होता है उन अर्थों में उस शब्द की भिन्न-भिन्न शक्ति न मान कर एक ही शक्ति मानी जाती है और उन अर्थों में वह शब्द एकार्थक माना जाता है, जैसे पुष्पवन्त शब्द से चन्द्र और सूर्य का बोध क्रम से न होकर एक साथ ही होता है अतः चन्द्र, सूर्य दोनों में पुष्पवन्त शब्द की एक ही शक्ति मानी जाती है और वह शब्द उन अर्थों में एकार्थक माना जाता है। ठीक उसी प्रकार द्रव्य शब्द से उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य का बोध क्रम से न होकर नियमेन एक साथ ही होता है। अतः उन तीनों अर्थों में द्रव्य शब्द की भिन्न-भिन्न शक्ति न होकर एक ही शक्ति होगी और द्रव्य शब्द उन अर्थों में नानार्थक न होकर एकार्थक ही होगा।

प्रश्न का दूसरा अंश यह है कि पुष्पवन्त शब्द एक शक्ति से दो अर्थों का बोधक होने से जैसे नियमेन द्विवचनान्त ही होता है उसी प्रकार एक शक्ति से उत्पत्ति आदि तीन अर्थों का बोधक होने के कारण द्रव्य शब्द नियमेन बहुवचनान्त ही क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर इस प्रकार है—

शब्दों के साथ वचन-प्रयोग के दो कारण होते हैं—व्याकरण का कोई विशेष अनुशासन अथवा शब्दार्थ की संख्या बताने का उद्देश्य। व्याकरण के विशेष अनुशासन से जो वचन प्रयुक्त होते हैं उन पर शब्दार्थ की संख्या बताने का कोई भार नहीं होता। इसी लिये एक जल के लिये भी बहुवचनान्त अप् शब्द का तथा एक स्त्री के लिये भी बहुवचनान्त दार शब्द का प्रयोग प्रामाणिक माना जाता है। किन्तु जो वचन दूसरे कारण से प्रयुक्त होते हैं उन पर शब्दार्थ की विवक्षित संख्या का नियन्त्रण होता है और उन्हें शब्दार्थ की उस संख्या को बताना अनिवार्य है जो शब्द की प्रवृत्ति के निमित्तभूत धर्म से व्याप्य होती है। जैसे घट शब्द के साथ प्रयुक्त बहुवचन से घट शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त भूत घटत्व से व्याप्य घटशब्दार्थ के ही बहुत्व का बोध होता है न कि घट, पट और मठ इन विभिन्न शब्दार्थों के बहुत्व का। द्रव्य शब्द के साथ बहुवचन विभक्ति का ही प्रयोग हो, इस प्रकार का व्याकरण का कोई विशेष अनुशासन नहीं है अतः उसके कारण द्रव्य शब्द को नियमेन बहुवचनान्तता नहीं प्राप्त हो सकती। दूसरे कारण से भी द्रव्य शब्द नियमेन बहुवचनान्त नहीं हो सकता क्योंकि उस स्थिति में द्रव्य शब्द के साथ प्रयुक्त होने वाले बहुवचन को द्रव्य शब्दार्थ में बहुत्व संख्या का बोध कराना अनिवार्य होगा और उसका परिणाम यह होगा कि एक द्रव्य के लिए द्रव्य शब्द का प्रयोग असम्भव हो जायगा

क्योंकि एक द्रव्य में प्रतिपादनीय बहुत्व बाधित है। पुष्पवन्त शब्द का दृष्टान्त द्रव्य शब्द के लिये उपयुक्त नहीं है। क्योंकि पुष्पवन्त शब्द के साथ नियमेन द्विवचन के प्रयोग का समर्थक व्याकरण का कोई विशेष अनुशासन न होने पर भी दूसरे कारण से पुष्पवन्त शब्द के द्विवचनान्त होने में कोई बाधा नहीं है। तात्पर्य यह है कि पुष्पवन्त शब्द की एक ही शक्ति चन्द्र और सूर्य इन दो विभिन्न अर्थों मे है और वह शब्द इन अर्थों में किसी एक ही अर्थ को बताने के लिये कभी नहीं प्रयुक्त होता किन्तु चन्द्र और सूर्य इन दो अर्थों का प्रतिपादन करने के लिये ही प्रयुक्त होता है अतः उसके साथ प्रयुक्त होने वाले द्विवचन को पुष्पवन्त शब्दार्थ के विवक्षित द्वित्व को बताने में कोई अड़चन नहीं है। यह शङ्का कि चन्द्र, सूर्य-गत द्वित्व पुष्पवन्त पद के प्रवृत्तिनिमित्त चन्द्रत्व और सूर्यत्व का व्याप्य न होने से पुष्पवन्त शब्द के साथ प्रयुक्त होने वाले द्विवचन से प्रतिपादित नहीं हो सकता, ठीक नहीं है, क्योंकि चन्द्रत्व और सूर्यत्व अलग-अलग यद्यपि उक्त द्वित्व के व्यापक नहीं है तथापि पुष्पवन्त शब्द के प्रवृत्तिनिमित्तत्व रूप से व्यापक तो हैं ही क्यों कि उक्त द्वित्व के चन्द्र-सूर्य-रूप दोनों ही आश्रयों में पुष्पवन्त शब्द का कोई न कोई प्रवृत्तिनिमित्त विद्यमान है और जब चन्द्रत्व और सूर्यत्व उक्त रूप से चन्द्र, सूर्य-गत द्वित्व के व्यापक हैं तो उक्त द्वित्व भी उक्त प्रकार से चन्द्रत्व और सूर्यत्व का व्याप्य हो ही सकता है। द्रव्य शब्द की बात उससे भिन्न है क्योंकि वह उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य के विभिन्न तीन आश्रयों का बोधक न होकर उन तीनों के एक आश्रय का बोधक होता है और एक आश्रय में उस प्रकार का बहुत्व, जिसका प्रतिपादन करना बहुवचन के प्रयोग के लिये आवश्यक है, सम्भव नहीं है।

एकत्वसंवलितविध्यनुवादभावाद्
बौद्धं बहुत्वमपि नो वचनात्ययाय।
प्रत्येकमन्वयितयाऽपि न तत्प्रसङ्ग-
स्तात्पर्यसंघटितसन्निहिताश्रयत्वात् ॥ ६६ ॥

उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य इन तीन धर्मों को द्रव्य पद का प्रवृत्तिनिमित्त मानने पर द्रव्य पद के नित्य बहुवचनान्त होने की शङ्का इस प्रकार पुनः उठती है कि उक्त तीन धर्मों के आश्रयभूत एक व्यक्ति में यद्यपि संख्यारूप बहुत्व तो नहीं रह सकता पर 'एक व्यक्ति उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य इन तीन धर्मों का आश्रय होता है' इस प्रकार की बुद्धि होने में कोई बाधा न होने मे बौद्ध बहुत्व तो रह ही सकता है, फिर इस बौद्ध बहुत्व की दृष्टि से एक व्यक्ति में भी बहुवचनान्त द्रव्य पद का प्रयोग होने में जब कोई बाधा नहीं है

तब द्रव्य पद नियमेन बहुवचनान्त ही क्यों नहीं होता ? इस पद्य के पूर्वार्ध में इसी शङ्का का समाधान प्रस्तुत किया गया है जो इस प्रकार है—

एक व्यक्ति में बौद्ध बहुत्व का बोध सम्पादित करने के दो प्रकार हैं— एक तो यह कि उसे उद्देश्यभूत किसी एक व्यक्ति में विधेय बना दिया जाय, जैसे 'एक घट उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य के भेद से बहुरूप है' दूसरा यह कि उसे एकत्व के अनुवाद्य-उद्देश्य कोटि में डाल दिया जाय, जैसे उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य इन तीनों का आश्रय एक है'। बौद्ध बहुत्व के ये दोनों प्रकार के ही बोध नियमेन एकत्व की अपेक्षा रखते हैं, इस अपेक्षा की पूर्ति के लिये द्रव्यपद के साथ एकवचन का प्रयोग अपरिहार्य रूप से आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति द्रव्य पद को नियमेन बहुवचनान्त मानने पर नहीं हो सकती, अतः बौद्ध बहुत्व की दृष्टि से भी द्रव्यपद को नित्य बहुवचनान्त नहीं माना जा सकता।

द्रव्य पद को उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य के आश्रय का वाचक मानने पर उसके नित्य बहुवचनान्त होने की शङ्का एक और प्रकार से भी होती है और वह प्रकार यह है कि जब द्रव्य पद उक्त तीन धर्मों के आश्रय का वाचक होगा तो उन तीनों में प्रत्येक का स्वतन्त्र रूप से आश्रय के साथ अन्वय होगा और उस दशा में उत्पत्त्याश्रय, विनाशाश्रय और ध्रौव्याश्रय के रूप में तीन आश्रयों का बोध होगा फिर जब नियमतः तीन आश्रय बोधनीय होंगे तब उन तीन आश्रयों के बोधनार्थ द्रव्य पद को नित्य बहुवचनान्त होना अनिवार्य है, पद्य के उत्तरार्ध में इस दूसरी शङ्का का उत्तर प्रस्तुत किया गया है जो इस प्रकार है—

द्रव्य पद से होने वाले बोध में उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य के आश्रय-त्रय का भान नहीं माना जा सकता क्योंकि द्रव्य पद का प्रयोग उक्त आश्रय-त्रय का बोध कराने के अभिप्राय से नहीं होता अपि तु उत्पत्ति आदि तीनों धर्मों के एक आश्रय का बोध कराने के अभिप्राय से होता है जिसकी पूर्ति द्रव्य से आश्रय-त्रय का बोध मानने पर नहीं हो सकती। इस अभिप्राय के पूर्त्यर्थ यह मानना आवश्यक है कि द्रव्य पद से उत्पन्न होने वाले बोध में आश्रय के साथ उत्पत्ति आदि धर्मों का स्वतन्त्र रूप से अन्वय न होकर एक विशिष्ट अपर रूप में होता है अर्थात् द्रव्य पद से उत्पत्तिविशिष्टविनाशविशिष्ट ध्रौव्य के एक आश्रय का बोध होता है। इस प्रकार का बोध मानने पर यदि यह आपत्ति खड़ी हो कि उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य में कौन किसका विशेषण हो इस बात का कोई निर्णायक न होने के कारण उक्त रीति से विशिष्ट आश्रय का एकविध

बोध मानना समुचित नहीं है तो उस दशा में "एकत्र द्वयम्" की रीति से उत्पत्ति आदि तीनों धर्मों का एक आश्रय में युगपत् अन्वय मानना श्रेयस्कर होगा। अर्थात् द्रव्य पद से होने वाले बोध में उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य-गत तीन प्रकारतावों से निरूपित आश्रयगत एक विशेष्यता का अङ्गीकार उचित होगा। निष्कर्ष यह है कि द्रव्य पद से आश्रयत्रय की विवक्षा न होने के कारण आश्रयत्रय की दृष्टि से भी द्रव्य पद को नित्य बहुवचनान्त नहीं माना जा सकता।

यद्वन्महेश्वरपदं न विभिन्नवाच्यं
सर्वज्ञताऽऽदिषडवच्छिदया परेषाम्।
द्रव्यध्वनिस्तव तथैव परं पदार्थ-
वाक्यार्थभावभजना न परैः प्रदृष्टा॥ ६७॥

इस श्लोक से उदाहरण द्वारा इस बात की पुष्टि की गई है कि उत्पत्ति आदि तीन धर्मों के प्रवृत्तिनिमित्त होने पर भी द्रव्य पद नानार्थक और नित्य बहुवचनान्त नहीं हो सकता।

नैयायिकों ने महेश्वर शब्द के छः प्रवृत्तिनिमित्त माने हैं।

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः
स्वन्तत्रा नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥

तात्पर्य यह है कि महेश्वर शब्द से सर्वज्ञता-समस्त पदार्थों का सभी सम्भव प्रकारों से यथार्थज्ञान, तृप्ति–अपने सुख की इच्छा का न होना, अनादिबोध; नित्यज्ञान, स्वतन्त्रता–जगत्कर्तृत्व, नित्यम् अलुप्तशक्तिः–कभी भी नष्ट न होने वाली शक्ति अर्थात् नित्य इच्छा और नित्य प्रयत्न तथा अनन्तशक्ति–अपरिमित कारणता से युक्त एक ईश्वर का बोध होता है। तो जिस प्रकार महेश्वर शब्द नानार्थक और नित्य बहुवचनान्त न होने पर भी सर्वज्ञता आदि छः धर्मों के एक आश्रय का बोधक होता है उसी प्रकार नानार्थक और नित्य बहुवचनान्त न होने पर भी द्रव्य पद भी उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य के एक आश्रय का बोधक हो सकता है, और इसी लिये नैयायिक, जिन्हें स्याद्वाद का सुपरिचय नहीं है, भले स्वीकार न करें, पर जैन विद्वानों ने जिन्हें स्याद्वाद का मर्म पूर्णतया अवगत है, द्रव्य शब्द में एक ही साथ पदभाव और वाक्यभाव दोनों बातों की कल्पना की है अर्थात् उन्होंने यह स्वीकार किया है कि उत्पत्ति आदि अनेक

अर्थों का बोधक होने से द्रव्य शब्द वाक्यरूप भी है और उन अनेक अर्थों से युक्त एक आश्रय का बोधक होने से पदरूप भी है ।।

एवं च शक्तितदवच्छिदयोर्भिदातो
द्रव्यध्वनेर्नयभिदेव विचित्रबोधः ।
काचित् प्रधानगुणभावकथा क्वचित्तु
लोकानुरूपनियतव्यवहारकर्त्री ।। ६८ ।।

इस पद्य में यह बात बतायी गयी है कि द्रव्य शब्द की शक्ति और उसके अवच्छेदक भिन्न भिन्न हैं । अतः भिन्न-भिन्न नयों के अनुसार उस शब्द से भिन्न-भिन्न प्रकारके बोध हुआ करते हैं । हाँ, यह अवश्य है कि कहीं-कहीं द्रव्य शब्द के प्रतिपाद्य अर्थों में किसी को प्रधान और किसी को गौण मानना पड़ता है । क्योंकि ऐसा माने विना विभिन्न नयों द्वारा विभिन्न अर्थों में आबद्ध ऐसे कई लोकव्यवहार हैं जिनकी उपपत्ति नहीं हो सकती । उदाहरणार्थ जैसे जब यह कहा जाता है कि 'द्रव्य' के अनेक गुण-धर्म तो बदलते रहते हैं पर द्रव्य स्वयं स्थिर रहता है' तब स्पष्ट है कि इस कथन में द्रव्य शब्द के उत्पाद और व्यय-रूप अर्थ गौण रहते हैं और ध्रौव्यरूप अर्थ प्रधान रहता है । इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि 'द्रव्य प्रतिक्षण कुछ न कुछ बदलता रहता है, अन्यथा किसी समय उसका जो सुस्पष्ट परिवर्तन लक्षित होता है वह नहीं हो सकता' तब इस कथन में द्रव्य शब्द का ध्रौव्य अर्थ गौण और उत्पाद एवं व्ययरूप अर्थ प्रधान होता है ।

जैनदर्शन में सात नय माने गये है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत । इनमें प्रथम तीन को द्रव्यार्थिक नय वा सामान्य नय और अन्तिम चार को पर्यायार्थिक नय वा विशेष नय कहा जाता है । समस्त ज्ञेय तत्त्व को शब्द और अर्थ दो श्रेणियों में विभक्त करने पर उक्त नयों में प्रथम चार को अर्थनय तथा अन्तिम तीन को शब्दनय कहा जाता है । इन नयों के अनुसार द्रव्य शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं । नैगम और व्यवहार बाहुल्येन उपचार वा आरोप पर निर्भर होते हैं । अतः उन दोनों नयों के अनुसार लक्षणादि के सहयोग से द्रव्य शब्द से द्रव्य का बोध विभिन्न रूपों में होता है । अर्थात् कभी केवल उत्पाद, कभी केवल व्यय और कभी केवल ध्रौव्य-रूप से, एवं कभी किन्हीं दो रूपों से, कभी तीन रूपों से, कभी तीनों के आश्रय-रूपसे और कभी तीनों के तादात्म्य रूपसे द्रव्य का बोध द्रव्य शब्द से निष्पन्न होता है । ऋजु सूत्र मुख्यतया वर्तमानग्राही होता है । वर्तमानता उत्पाद और व्यय की ही स्पष्ट है, ध्रौव्य तो उनके बीच अन्तर्हित सा रहता है । अतः

ऋजुसूत्र के अनुसार प्राधान्येन उत्पाद और व्यय रूप से ही द्रव्य का बोध होता है। शब्द नय के अनुसार द्रव्य शब्द से उत्पन्न होने वाला बोध उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को भी विषय करता है। समभिरूढ़ का विषय शब्द नय की अपेक्षा संकुचित एवं सूक्ष्म होता है। अतः उसके अनुसार द्रव्य शब्द से उत्पन्न होने वाला बोध उत्पाद आदि शब्दों को विषय न कर केवल द्रव्य शब्द को विषय करता है। एवम्भूत नय के अनुसार द्रव्य शब्दार्थ का बोध द्रव्य शब्द के व्युत्पत्तिगम्य रूप को भी विषय करता है। विशुद्ध संग्रह नय के अनुसार द्रव्य शब्द से अद्वैतदर्शनसम्मत एक अखण्ड सत्तामात्र का बोध होता है और विशुद्ध पर्याय नय के अनुसार बौद्धसम्मत सर्वशून्यता का बोध होता है।

यहाँ इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि नय जितने भी हैं वे सब वस्तु के किसी-किसी अंश को ही प्रदर्शित करते हैं। उसके अविकल रूप को प्रदर्शित करने की शक्ति उनमें नहीं होती। वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप का परिज्ञान तो 'स्याद्वाद' से ही हो सकता है। 'स्याद्वाद' की इस महिमा को स्फुट करने के लिये ही जैनदर्शन में सप्तभङ्गी नय की प्रतिष्ठा की गयी है और 'अनेकान्त' को ही वस्तु का प्राण माना गया है॥

द्रव्याश्रया विधिनिषेधकृताश्च भङ्गाः
कृत्स्नैकदेशविधया प्रभवन्ति सप्त।
आत्माऽपि सप्तविध इत्यनुमानमुद्रा
त्वच्छासनेऽस्ति विशदव्यवहारहेतोः॥ ६१॥

इस पद्य में सामान्यरूप से द्रव्यमात्र में तथा विशेषरूप से आत्मा में सप्तभङ्गी न्याय की उपपत्ति बतायी गयी है।

द्रव्यत्व को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप मानने पर यह प्रश्न उठता है कि द्रव्यत्व का यह स्वरूप ही जैनदर्शन में सत्ता का स्वरूप है। अतः वह जगत् के समस्त पदार्थों में विद्यमान है। उसके अभाव के लिये कहीं कोई स्थान नहीं है। फलतः द्रव्यत्व के विधि-निषेध के आधार पर 'स्याद् द्रव्यम्', स्याद् अद्रव्यम्, स्याद् द्रव्यं च अद्रव्यं च, स्याद् अवक्तव्यम्, स्याद् द्रव्यं च अवक्तव्यं च, स्याद् अद्रव्यं च अवक्तव्यं च, स्याद् द्रव्यं च अद्रव्यं च अवक्तव्यं च' इस सप्तभङ्गी न्याय की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और उसके अभाव में किसी भी द्रव्य का विशेषेण आत्मा का अविकल स्वरूप प्रकाश में नहीं आ सकता।

इस प्रश्न का उत्तर इस पद्य में यह दिया गया है कि कृत्स्न-समुदाय और एक देश की अपेक्षा द्रव्यत्व और उसके अभाव की कल्पना करके एक ही वस्तु में उक्त सातो भङ्ग उपपन्न किये जा सकते हैं क्योंकि वस्तु के सम्पूर्ण भाग में

द्रव्यत्व और उसके एक-एक भाग में द्रव्यत्व का अभाव मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि द्रव्य एक समुदायात्मक वस्तु है। उसमें तीन अंश होते हैं—उत्पन्न होने वाला, नष्ट होने वाला और स्थिर रहने वाला। फलतः समुदाय में द्रव्यत्व और उत्पन्न तथा नष्ट होने वाले भाग में उसके अभाव के रहने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

उक्त रीति से घट, पट आदि पदार्थों में द्रव्यत्व और द्रव्यत्वाभाव के आधार पर सप्तविधत्व सिद्ध हो जाने पर उसी दृष्टान्त से आत्मा में भी सप्तविधत्व का अनुमान कर लिया जा सकता है क्योंकि उसके विना अन्य पदार्थों की भांति आत्मा का भी सप्तभङ्गीन्यायमूलक विस्पष्ट व्यवहार नहीं हो सकता॥

शक्त्या विभुः स इह लोकमितप्रदेशो
व्यक्त्या तु कर्मकृतसौरशरीरमानः।
यत्रैव यो भवति दृष्टगुणः स तत्र
कुम्भादिवद् विशदमित्यनुमानमत्र ॥ ७० ॥

जैनदर्शन में आत्मा न्यायदर्शन के अनुसार एकान्ततः विभु अथवा बौद्ध-दर्शन के अनुसार एकान्ततः अविभु नहीं है किन्तु कथंचिद् विभु भी है और कथंचिद् अविभु भी है।

इस संसार में आत्मा लोकमित-प्रदेश है अर्थात् लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही प्रदेश आत्मा के भी हैं, अतः लोक के समस्त प्रदेशों के साथ आत्मप्रदेशों के सम्बन्ध के शक्य होने के कारण आत्मा शक्ति–सामर्थ्य की दृष्टि से विभु—व्यापक है, किन्तु व्यक्तिगत स्वरूप की दृष्टि से अथवा अपनी अभिव्यक्तिकी दृष्टि से वह अपने पूर्वार्जित कर्म द्वारा प्राप्त किये गये अपने शरीरमात्र में ही सीमित होने से अविभु–अव्यापक है।

व्यक्तिरूप में आत्मा अपने शरीरमात्र में ही सीमित रहता है यह बात एक निर्दोष अनुमान द्वारा प्रमाणित होती है, वह अनुमान इस प्रकार है। प्रत्येक आत्मा अपने शरीर में ही सीमित होता है क्योंकि उसके गुणों का प्राकट्य उसके शरीर में ही होता है, जिस स्थानमात्र में ही जिसके गुणों का प्राकट्य होता है वह उस स्थानमात्र में ही सीमित होता है जैसे घट, पट आदि पदार्थ।

प्रश्न हो सकता है कि जब आत्मा के प्रदेश संख्या में लोकाकाश के प्रदेशों के समान हैं तब उतने प्रदेशों का किसी एक लघु शरीर में सीमित होना कैसे सम्भव हो सकता है? उत्तर यह है कि आत्मा के प्रदेश पाषाण के समान ठोस नहीं होते किन्तु उनमें आवश्यकतानुसार सिकुड़ने और फैलने की क्षमता होती

है, जब किसी आत्मा को उसके पूर्वकर्मानुसार कोई लघु शरीर प्राप्त होता है तब वह आत्मा अपने समस्त प्रदेशों को समेट कर उस लघु शरीर में ही सीमित हो जाता है तथा जब वह किसी विशाल शरीर को प्राप्त करता है तब अपने प्रदेशों को विस्तृत कर उस विशाल शरीर में फैल जाता है और जब अपने कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है तब प्रदेशों की परिधि को लाँघ कर अलोकाकाश में उठ जाता है, इस प्रकार जैनदर्शन की दृष्टि में आत्मा के एक संकोच विकासशाली पदार्थ होने से उक्त प्रश्न के लिये कोई अवकाश नहीं रहता।

स्वाहाभुजो ज्वलनमूर्ध्वमपि स्वभावात्
सम्बन्धभेदकलितादथवाऽस्त्वदृष्टात् ।
दिग्देशवर्तिपरमाणुसमागमोऽपि
तच्छक्तितो न खलु बाधकमत्र विघ्नः ॥ ७१ ॥

पूर्व श्लोक में यह बात बताई गई है कि व्यक्ति रूप में आत्मा अपने शरीरमात्र में ही सीमित रहता है, इस पर यह शङ्का होती है कि जब आत्मा शरीरमात्र में ही सीमित रहेगा तब आत्मगत अदृष्ट का दूर-दूर के भिन्न-भिन्न स्थानों में विद्यमान अग्नियों के साथ एक साथ सम्बन्ध न हो सकने के कारण उनमें एक साथ जो ऊर्ध्वमुख ज्वाला का उदय होता है वह कैसे होगा ? शङ्का का आशय यह है कि जब आत्मा को शरीरमात्र में सीमित न मान कर विभु माना जाता है तब आत्मगत अदृष्ट का विभिन्न स्थानवर्ती अग्नि के साथ स्वाश्रयसंयुक्तसंयोग अथवा स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध एकसाथ हो सकता है। जैसे स्व है अदृष्ट, उसका आश्रय है आत्मा, उससे संयुक्त है विभिन्न स्थानों में विद्यमान अग्नि का समीपस्थ वायु और उसका संयोग है अग्नि के साथ, अथवा स्व है अदृष्ट, उसका आश्रय है आत्मा, व्यापक होने से उसका संयोग है विभिन्न स्थानवर्ती अग्नि के साथ, इस प्रकार आत्मा को विभु मानने पर उसके अदृष्ट का उक्त सम्बन्ध विभिन्न स्थानवर्ती अग्नि के साथ हो सकने के कारण उक्त सम्बन्ध से अदृष्ट विभिन्न स्थानवर्ती अग्नियों में एकसाथ ऊर्ध्वाभिमुख ज्वाला उत्पन्न कर सकेगा। पर जब आत्मा विभु न होकर शरीरमात्र में ही सीमित रहेगा तब शरीरस्थ आत्मा का दूरवर्ती भिन्न-भिन्न वायु वा भिन्न-भिन्न अग्नि के साथ युगपत् संयोग न हो सकने से उसके अदृष्ट का भी उक्त सम्बन्ध न हो सकेगा, अतः आत्मगत अदृष्ट द्वारा विभिन्न स्थानवर्ती विभिन्न अग्नियों में एकसाथ ऊर्ध्वज्वलन का जन्म न हो सकेगा।

इस शङ्का का उत्तर यह है कि अग्नि का जो ऊर्ध्वज्वलन होता है वह अदृष्टमूलक नहीं है किन्तु अग्निस्वभावमूलक है, क्योंकि यदि उसे अदृष्टमूलक

माना जायगा तो अदृष्ट का जैसा सम्बन्ध अग्नि के साथ है वैसा ही सम्बन्ध जल, वायु आदि के भी साथ है फिर उस सम्बन्ध से जैसे अग्नि की ज्वाला में ऊर्ध्वगति होती है वैसे ही जल और वायु आदि में भी ऊर्ध्वगति होने की आपत्ति होगी, इस लिये यही मानना उचित होगा कि अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन, जल का निम्नवहन और वायु का तिर्यग्वहन उनके अपने-अपने विलक्षण स्वभाव के ही कारण होता है।

यदि यह कहा जाग कि अदृष्ट कार्यमात्र का कारण होता है, विना अदृष्ट के कोई कार्य नहीं होता, अतः ऊर्ध्वज्वलन आदि को उत्पन्न करने वाले अदृष्ट को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, फिर अदृष्ट से ही जब ऊर्ध्वज्वलन आदि का नियमन हो सकता है तब अग्नि आदि के स्वभावभेद को ऊर्ध्वज्वलन आदि का नियामक मानना उचित नहीं है, इसलिये ऊर्ध्वज्वलन आदि के प्रति अदृष्ट की कारणता को उपपन्न करने के लिये उसके आश्रयभूत आत्मा का शरीर से बाहर भी अस्तित्व मानना आवश्यक है, तो इस कथन के उत्तर में जैनदर्शन का यह वक्तव्य होगा कि अदृष्ट कार्यमात्र का कारण है अतः उसीको, उर्ध्व-ज्वलन आदि का नियामक मानना उचित है, यह बात ठीक है, पर इसके लिए आत्मा को विभु मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि इसकी उपपत्ति तो अग्नि आदि के साथ अदृष्ट का कोई साक्षात् सम्बन्ध मान लेने से भी हो सकती है। इस पर यदि यह शङ्का की जाय कि एक आत्मा के शुभाशुभ आचरणों से उत्पन्न होने वाले अनन्त अदृष्टों का अनन्त द्रव्यों के साथ साक्षात् सम्बन्ध मानने की अपेक्षा उन समस्त अदृष्टों का उस एक आत्मा के साथ सम्बन्ध मान कर उसके द्वारा विभिन्न द्रव्यों के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करने के लिये आत्मा को विभु मानना ही उचित है, तो उसका उत्तर यह है कि आत्मा को विभु मानना उचित नहीं हो सकता क्योंकि यदि उसे विभु माना जायगा तो शरीर के बाहर भी उसकी सत्ता माननी होगी और उस दशा में शरीर के समान शरीर के बाहर भी आत्मा के ज्ञान आदि गुणों के प्राकट्य की आपत्ति होगी, अतः आत्मा को शरीरमात्र में ही सीमित मानकर कार्यमात्र के प्रति अदृष्ट की कारणता को उपपन्न करने के लिये समस्त कार्यदेशों के साथ अदृष्ट के साक्षात् सम्बन्ध की कल्पना ही उचित है।

इस सन्दर्भ में दूसरी शङ्का यह होती है कि यदि आत्मा विभु न होगा तो विभिन्न दिशाओं और विभिन्न स्थानों में स्थित परमाणुओं के साथ आत्मा के अदृष्ट का सम्बन्ध न हो सकने के कारण उनमें अदृष्टमूलक गति न हो सकेगी, और गति के अभाव में परमाणुओं का परस्पर मिलन तथा उससे शरीर आदि

का निर्माण कुछ भी न हो सकने के कारण इस प्रत्यक्ष जगत् की भी उपपत्ति न हो सकेगी। इस शङ्का का उत्तर यह है कि उपर्युक्त दोष की आपत्ति तब होती जब आत्मा को एकान्ततः अव्यापक ही माना जाता, पर जैनदर्शन में जैसे आत्मा की एकान्ततः व्यापकता नहीं है उसी प्रकार उसकी एकान्ततः अव्यापकता भी नहीं है, यह बात पूर्वश्लोक में ही स्पष्ट कर दी गई है कि आत्मा व्यक्तिरूप में अव्यापक-अपने विद्यमान शरीरमात्र में ही सीमित होने पर भी शक्तिरूप में विभु है समस्त लोकाकाशप्रसरी है, अतः आत्मा अपनी अदृष्टशक्ति से विभिन्न दिशाओं और विभिन्न स्थानों में स्थित विभिन्न परमाणुओं को गतिशील बना उनके परस्पर मिलन को सम्पन्न कर जगत् के विस्तार को शक्य और सम्भव कर सकता है।

उपर्युक्त रीति से प्रसक्त अनुप्रसक्त समस्त विषयों पर विचार करने पर यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि शक्ति की दृष्टि से आत्मा को विभु और व्यक्ति की दृष्टि से उसे अविभु अर्थात् शरीरमात्र में सीमित मानने में कोई बाधा नहीं है।

मूर्तत्वसावयवतानिजकार्यभाव-
च्छेदप्ररोहपृथगात्मकताप्रसङ्गाः।
सर्पा इवातिविकरालदृशोऽपि हि त्वत्-
स्याद्वादगारुडसुमन्त्रभृतां न भीत्यै ॥ ७२ ॥

आत्मा को अविभु मानने पर कुछ और भी आपत्तियाँ उठती हैं, जो इस प्रकार हैं।

आत्मा यदि अविभु होगा तो मूर्त होगा। और मूर्त होने पर दो मूर्त द्रव्यों का एक स्थान में समावेश शक्य न होने के कारण शरीर में उसका अनुप्रवेश न हो सकेगा। और यदि मूर्त शरीर में मूर्त मन और बालुकापुञ्ज में मूर्त जल कणों के समान मूर्त शरीर में मूर्त आत्मा के समावेश की उपपत्ति की जायगी तो शरीर के समूचे भाग में शैत्य औष्ण्य आदि की सह अनुभूति की उपपत्ति के लिये शरीर के समस्त अवयवों में आत्मा का सह अनुप्रवेश मानना होगा, और उसके सामञ्जस्य के लिये उस को शरीरसमप्रमाण मानना होगा। और शरीरसम होने पर शरीर के समान उसे जन्य तथा शरीर का खण्ड एवं प्ररोह होने पर उसका भी खण्ड और प्ररोह मानना होगा। इन आपत्तियों के अतिरिक्त दूसरी आपत्ति यह होगी कि जब कभी कोई एक शरीर कट कर अनेक खण्डों में विभक्त होगा तो उन जीवित खण्डों में उस शरीर के आत्मा का अनुप्रवेश होने पर एक ही आत्मा के अनेक भेद हो जांयगे।

इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार का कथन यह है कि ऊपर बताये गये समस्त दोष देखने में यद्यपि सर्प के समान बड़े भयानक लगते हैं तथापि भगवान् महावीर के शासन में रहने वाले लोगों को उन दोष-पन्नगों से कोई डर नहीं है क्योंकि वे स्याद्वाद के गारुडीय मन्त्र से सुरक्षित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे सर्पविषनाशक गारुडीय मन्त्र को जानने वाले मनुष्यों को बड़े-बड़े विषैले सर्प कोई हानि नहीं पहुँचा पाते उसी प्रकार स्याद्वाद की रीति से समस्त विरोधों का समन्वय करने में कुशल जैन मनीषियों को भी उक्त आपत्तियाँ कोई हानि नहीं पहुँचा सकतीं क्योंकि जैनमत में आत्मा में मूर्तत्व, सावयवत्व, कार्यत्व, खण्ड, प्ररोह और भिन्नात्मता अपेक्षाभेद से कथंचित् स्वीकार्य हैं।

स्युर्वैभवे जननमृत्युशतानि जन्म-
न्येकत्र पाटितशतावयवप्रसङ्गात् ।
चित्तान्तरोपगमतो बहुकार्यहेतु-
भावोपलोपजनितं च भयं परेषाम् ॥ ७३ ॥

आत्मा को अव्यापक मानने पर जो दोष शङ्कास्पद थे उनका निराकरण कर आत्मा को व्यापक मानने पर प्रसक्त होने वाले अप्रतीकार्य दोषों का प्रदर्शन इस श्लोक में किया गया है। ऐसे दोषों में प्रधान दोष यह है कि यदि आत्मा व्यापक होगा तो एक ही जन्म में उसके सैकड़ों जन्म और मरण मानने होंगे, जैसे जब किसी छिपकली का शरीर कट जाने पर उस के कई खण्ड हो जाते हैं तब उन खण्डों में कुछ देर तक कपकंपी होती है, यह कपकंपी दुःखानुभव के कारण ही होती है, दुःखानुभव उन विभिन्न खण्डों में तभी हो सकता है जब उन में भिन्न-भिन्न मन का अनुप्रवेश माना जाय, और आत्मा के व्यापकत्व-मत में भोगायतन में मन का प्रवेश ही आत्मा का जन्म और उसमें से मन का निष्क्रमण ही मरण कहलाता है। इसलिये किसी छिपकली का शरीर कटने पर उसके जितने खण्ड होंगे उन खण्डों में उतने मन का प्रवेश होने पर उस छिपकली के उतने ही जन्म और उन खण्डों से मन का निष्क्रमण होने पर उतने ही उसके मरण मानने होंगे।

उक्त रीति से एक जन्म में एक जीव के कई जन्म और कई मरण तथा कई भोगायतनों में उस जन्म के कई भोग मानने का परिणाम यह होगा कि आत्मा के व्यापकत्वमत में माने गये कई कार्यकारणभावों के लोप का भय उपस्थित हो जायगा। जैसे किसी भी सामान्य जीव को एक जन्म में किसी एक ही शरीर में किसी एक ही मन से उस जन्म के सभी भोग सम्पन्न होते हैं, यह वस्तुस्थिति है, इस वस्तुस्थिति को व्यवस्थित

रखने के लिये इस प्रकार के कार्यकारणभाव माने जाते हैं कि अमुक जीव के अमुक जन्म में होने वाले सम्पूर्ण भोग के प्रति अमुक शरीर, अमुक मन और अमुक शरीर के साथ अमुक मन का संयोग आदि कारण है, पर जब एक छिपकली के विभिन्न शरीर खण्डों में विभिन्न मनों से उसी जन्म के विभिन्न भोग उस छिपकली को होंगे तब उक्त कार्य-कारणभावों में व्यभिचार होने से उनके लोप का जो भय उपस्थित होगा, आत्मा के विभुत्वपक्ष में उसका कोई परिहार न हो सकेगा।

जैन मत में इस प्रकार की आपत्तियों का भोई भय नहीं है क्योंकि उस मत में छिपकली के शरीर-खण्डों में उसके मूल शरीर का एवं उन शरीर-खण्डों में स्थित मन में उसके मूलशरीर में स्थित मन का एकान्त भेद नहीं होता।

प्रत्यंशमेव बहुभोगसमर्थने तु
स्यात्संकरः पृथगदृष्टगवृत्तिलाभे ।
मानं तु मृग्यमियतैव हतश्च काय-
व्यूहोऽपि योगिषु तवागमिकैः परेषाम् ॥ ७४ ॥

पूर्वोक्त दोषों के परिहारार्थ यदि यह कहा जाय कि जब छिपकली का शरीर कटने पर उसके कई खण्ड हो जाते हैं तब उन खण्डों को स्वतन्त्र भोगायतन नहीं माना जाता, किन्तु उस दशा में भी छिपकली के भोग का आयतन उसका मूलशरीर ही होता है, शरीर के खण्ड तो मूलभूत भोगायतन के अंश–अवच्छेदक मात्र होते हैं, अतः उस समय भिन्न भिन्न अवयव रूप अवच्छेदकों के सम्बन्ध से एक ही भोगायतन में छिपकली को अनेक भोग सम्पन्न होते हैं, इसलिये भोगायतन का भेद न होने से एक ही जन्म में जन्म एवं मरण के अनेकत्व आदि दोषों की आपत्ति नहीं हो सकती, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अवच्छेदकभेद से यदि अनेक भोगों का एककालिक सामानाधिकरण्य माना जायगा तो एक ही समय में अत्यन्त विसदृश कर्मपुञ्जों की फलोन्मुख वृत्ति का उदय होने पर विभिन्नजातीय भोगायतनों द्वारा भी एक जीव में विभिन्न भोगों के सांकर्य की आपत्ति होगी, इस आपत्ति के प्रतीकार में यदि यह कहा जाय कि एकजातीय भोगायतन अन्यजातीय भोगायतन की प्राप्ति में प्रतिबन्धक है, अतः मनुष्य-शरीर के रहते पशु आदि शरीर की प्राप्ति के अशक्य होने से उक्त आपत्ति नहीं होगी, तो यह कहना ठीक न होगा क्योंकि उस प्रकार के प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव में कोई प्रमाण नहीं है। उक्त आपत्ति के अप्रतीकार्य होने के कारण ही भगवान् महावीर के आगमज्ञ मनीषियों

द्वारा योगियों के कायव्यूहपरिग्रह को भी मान्यता नहीं दी जा सकती, क्योंकि योगी यदि एक ही समय में विभिन्न कर्मों के फलभोग के लिये विभिन्न शरीरों को धारण करेगा, तो एक ही समय में मनुष्य, देवता, असुर, कुत्ता, बिल्ली, शूकर आदि विभिन्न शरीरों में योगी की स्थिति माननी पड़ेगी जो योगी जैसे सुकृतशील आत्मा के लिये नितान्त अनुचित है।

नात्मा क्रियामुपगतो यदि काययोगः
प्रागेव को न खलु हेतुरदृष्टमेव ।
आद्ये क्षणेऽभ्यवहृतिः किल कार्मणेन
मिश्रात् ततोऽनु तनुसर्गमिति त्वमोघम् ॥ ७५ ॥

आत्मा के व्यापकत्वमत में सर्वातिशायी दोष यह है कि जब आत्मा विभु होगा तो निसर्गतः निष्क्रिय होगा, अतः शरीरप्राप्ति के पूर्व प्रयत्नहीन होने के कारण वह अदृष्टवश समीप में आये हुये भी भौतिक अणुवों को आहार के रूप में ग्रहण न कर सकेगा, और आहार ग्रहण न करने पर शरीर का निर्माण न होगा, फलतः संसार में आत्मा का प्रवेश असम्भव हो जाने से इस प्रत्यक्षसिद्ध जगत् की उपपत्ति न हो सकेगी। यदि यह कहा जाय कि शरीरप्राप्ति के पूर्व आत्मा प्रयत्न से नहीं किन्तु अपने पूर्वार्जित अदृष्ट से ही आहार आदि ग्रहण कर अपने शरीर का निष्पादन करता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि वह शरीरप्राप्ति के पूर्व विना प्रयत्न के केवल अदृष्ट से ही अपना कार्य करेगा तो शरीरप्राप्ति के पश्चात् भी वह अदृष्ट से ही अपने सब कार्य कर लेगा अतः प्रयत्न का सर्वथा लोप ही हो जायगा। इस लिये भगवान् महावीर का यह कथन ही सत्य है कि आत्मा केवल शक्तिरूप में ही व्यापक है किन्तु व्यक्तिरूप में वह शरीरसमप्रमाण है तथा शरीर और आत्मा का अन्योन्यानुप्रवेश होने के कारण वह सदैव सक्रिय है। आरम्भ में वह अपने कार्मण शरीर की क्रिया से आहार ग्रहण करता है और उसके बाद स्थूल शरीर की निष्पत्ति न होने तक औदारिक तथा कार्मण दोनों शरीरों की सम्मिलित चेष्टा से आहार ग्रहण करता है।

वीर्यं त्वया सकरणं गदितं किलात्म-
न्यालम्बनग्रहणसत्परिणामशालि ।
तेनास्य सक्रियतया निखिलोपपत्ति-
स्त्वद्द्वेषिणामवितथौ न तु बन्धमोक्षौ ॥ ७६ ॥

भगवान् महावीर ने बताया है कि आत्मा में एक वीर्य-विचित्र सामर्थ्य होता है, वह वीर्य अनन्त सहकारी-पर्यायों से सम्पन्न होता है, उन सहकारियों

के सहयोग से उसमें विभिन्न भौतिक अणुवों के आलम्बन, आहाररूप में उनके ग्रहण और व्यक्तरूप में उनका परिणमन करने की अद्भुत क्षमता होती है, उस वीर्य के सम्बन्ध से आत्मा सदैव सक्रिय होता है, अतः स्थूल शरीर की प्राप्ति के पूर्व से लेकर उसकी निष्पत्ति और अवस्थिति-पर्यन्त के सारे कार्य वह निर्बाध रूप से कर सकता है। भगवान् महावीर के इस उपदेश को शिरोधार्य करने वाले मनीषियों के मत में आत्मा के बन्ध और मोक्ष की यथार्थ उपपत्ति हो जाती है, पर जो नैयायिक भगवान् से द्वेष करते हैं उनके वचन को श्रद्धापूर्वक ग्रहण नहीं करते उनके मत में आत्मा के बन्ध और मोक्ष का यथार्थ प्रतिपादन नहीं हो सकता, क्योंकि उनके मत में आत्मा विभु होने से निष्क्रिय है अतः वह नूतन कर्मों के ग्रहणरूप बन्धन और संसारी क्षेत्र से निकल कर सिद्धिक्षेत्र में प्रवेशरुप मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता।

एकान्तनित्यसमये च तथेतरत्र
स्वेच्छावशेन बहवो निपतन्ति दोषाः।
तस्माद् यथेश ! भजनोर्जितचित्पवित्र-
मात्मानमात्थ न तथा वितथावकाशः ॥ ६७ ॥

आत्मा नितान्त नित्य है अथवा आत्मा सर्वथा अनित्य है, इन दोनों मतों में बहुत से दोष अनायास ही प्रसक्त होते हैं। जैसे जब आत्मा नित्य होगा तो उसकी हिंसा न हो सकेगी, और जब हिंसा न होगी तो हिंसक समझे जाने वाले मनुष्य को पाप न लगेगा। और जब मनुष्य यह समझ लेगा कि किसी का शिर काट देने पर वा किसी को गोली से उड़ा देने पर भी उसे कोई पाप न होगा तो उसे इन दुष्कृत्यों के करने में कोई हिचक न होगी, फलतः संसार में घोर नरसंहार के प्रवृत्त होने से समाज का सारा ढांचा ही छिन्न-भिन्न हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि हिंसा का अर्थ स्वरूपनाश नहीं है जिससे आत्मा को नित्य मानने पर उसकी अनुपपत्ति हो किन्तु हिंसा का अर्थ यह है कि शरीर, प्राण और मन के साथ आत्मा के जिस विशिष्ट सम्बन्ध के होने से आत्मा में जीवित रहने का व्यवहार होता है उस सम्बन्ध का नाश, अतः आत्मा के नित्य होने पर भी उस सम्बन्ध के नित्य न होने से हिंसा की अनुपपत्ति न होगी, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त सम्बन्ध के अप्रत्यक्ष होने से उसका नाश भी अप्रत्यक्ष होगा, अतः उक्त-नाश अमुक के होने पर होता है और अमुक के न होने पर नहीं होता है इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान न हो सकने से उसके प्रति किसी कारण का निश्चय न हो

सकेगा, फलतः जान बूझ कर हिंसा में प्रवृत्ति अथवा हिंसा से निवृत्ति की उपपत्ति न होगी और उस के अभाव में अपराधनिर्णय तथा दण्ड आदि की व्यवस्था का कार्य न हो सकेगा ।

इसी प्रकार आत्मा यदि एकान्त रूप से अनित्य होगा, तो प्रतिक्षण में उसका नाश स्वतः होते रहने से किसी को उसकी हिंसा का दोष न होगा, यदि यह कहा जाय कि आत्मा के क्षणिकत्वमत में केवल एक क्षण तक ही ठहरने वाला कोई एक व्यक्ति ही जीव नहीं है अपि तु क्रम से अस्तित्व प्राप्त करने वाले ऐसे अनगिनत क्षणिक व्यक्तियों का जो सन्तान-समूह होता हैं, वह एक जीव होता है, उस सन्तान के भीतर का एक एक व्यक्ति तो क्षणिक अवश्य होता है पर स्वयं वह सन्तान क्षणिक नहीं होता है, अतः उस सन्तान का प्रतिक्षण स्वतः नाश न होने के कारण उस सन्तान का नाश करने वाले को हिंसा का दोष लग सकेगा, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कृतहान—पूर्व जन्म में किये गये कर्म की निष्फलता और अकृताभ्यागम—नये जन्म में कर्म किये विना ही फल की प्राप्तिरूप दोषों से बचने के लिये एक जन्म के एक जीवसन्तान का मृत्यु से नाश और नये जन्म में नितान्त नूतन जीवसन्तान का उदय नहीं माना जा शकता, फलतः मृत्यु से एक सन्तान का नाश और जन्म से नूतन सन्तान का उदय मान्य न होने से सन्ताननाश को हिंसा नहीं कहा जा सकता, यदि यह कहा जाय कि एक शरीर-सन्तान के साथ एक जीव-सन्तान के सम्बन्ध का नाश हिंसा है तो आत्मा के एकान्त नित्यत्वपक्ष में शरीर के साथ आत्मा के विशिष्ट सम्बन्ध के नाश को हिंसा मानने में जो दोष बताया गया है उससे इस मत में भी मुक्ति नहीं मिल सकती ।

श्लोक के उत्तरार्ध में ग्रन्थकार का कथन यह है कि उपर्युक्त रीति से आत्मा की एकान्त नित्यता और एकान्त अनित्यतामतों के दोष ग्रस्त होने से भगवान् महावीर ने आत्मा के विषय में जो अपना यह मत बताया है कि भजना–स्याद्वाद के कवच से सुरक्षित, नित्यानित्यात्मक निर्मल चित्स्वरूप ही आत्मा का स्वरूप है, वही श्रेष्ठ मत है, उसमें किसी प्रकार के दोष का अवकाश नहीं है ।

एतादृगात्ममननं विनिहन्ति मिथ्या-
ज्ञानं सवासनमतो न तदुत्थबन्धः ।
कर्मान्तरक्षयकरं तु परं चरित्रं
निर्बन्धमात्थ जिन ! साधु निरुद्धयोगम् ॥ ७८ ॥

इस श्लोक में यह बात बताई गई है कि मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान अथवा केवल क्रिया से नहीं होती अपि तु दोनों के समुच्चय से होती है,

क्योंकि आत्मा को बन्धन में डालने वाली दो वस्तुयें हैं—वासनासहित मिथ्याज्ञान और अनेक जन्मों में संचित कर्मपुञ्ज। उनमें पहले का नाश तो स्याद्वादसिद्ध आत्मस्वरूप के अवबोध से सम्पन्न हो जाता है अतः उससे उत्पन्न होने वाले बन्धन से तो आत्मा मुक्त हो जाता है, पर दूसरे कारण-संचित कर्मपुञ्ज के अवशेष रहने से तन्मूलक बन्धन से आत्मा की मुक्ति नहीं हो पाती, अतः उस दूसरे कारण का नाश करने के लिये सच्चरित्र का परिपालन आवश्यक होता है, सच्चरित्र का सम्यक् परिपालन जब पूर्णता को प्राप्त करता है तब संचित समस्त कर्मपुञ्ज का क्षय हो जाने से बन्धन का वह द्वार भी बन्द हो जाता है, इस प्रकार बन्धन के दोनों द्वार बन्द हो जाने पर आत्मा को पूर्ण मुक्ति का लाभ सम्पन्न होता है, अतः भगवान् जिन-महावीर ने ठीक ही कहा है कि जब सभी योगों-बन्धकारणों का निरोध हो जाता है तभी निर्बन्ध-बन्धनों से नितान्त मुक्ति की सिद्धि होती है।

ज्ञानं न केवलमशेषमुदीर्य भोगं
कर्मक्षयक्षममबोद्धृदशाप्रसङ्गात्।
वैजात्यमेव किल नाशकनाश्यतादौ
तन्त्रं नयान्तरवशादनुपक्षयश्च ॥ ७१ ॥

इस श्लोक में यह बात बताई गई है कि जैसे सच्चरित्रपालन के विना अकेले क्षायोपशमिक ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार चरित्र के अभाव में अकेले केवल ज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि संचित कर्मकोशों का नाश उससे भी नहीं हो पाता। यदि यह कहा जाय कि जब साधक को केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब वासनासहित मिथ्या ज्ञान का नाश होने के साथ उसे समस्त संचित कर्मों के सहभोग की भी क्षमता प्राप्त हो जाती है, अतः केवलज्ञान से सम्पन्न साधक भोग द्वारा सम्पूर्ण संचित कर्मों का अवसान कर पूर्णरूपेण मुक्ति प्राप्त कर सकता है, इस लिये मोक्ष के सिद्धयर्थ केवलज्ञानी को सच्चरित्र का पालन अनावश्यक है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि संचित कर्मकोशों में ऐसे भी कर्म होते हैं जो अज्ञानबहुल जन्म द्वारा भोग्य होते हैं, फिर उन कर्मों का भोग करने के लिये केवलज्ञानी को उस प्रकार का भी जन्म ग्रहण करना होगा; और जब केवल-ज्ञानी को उस प्रकार के जन्म की प्राप्ति मानी जायगी तो उसमें अज्ञान का बाहुल्य भी मानना होगा, जो उस श्रेणी के विशिष्ट ज्ञानी के लिये कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि अज्ञानबहुल जन्म से भोग्य कर्मों का नाश हो जाने के बाद ही केवल ज्ञान का उदय होता है, तो

यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवल-ज्ञान का उदय होने के पूर्व सच्चरित्र के आराधन से ही उन कर्मों का नाश मानना होगा, तब यदि उन कर्मों का नाश सच्चरित्र से हो सकता है तो उसी प्रकार सच्चरित्र से अन्य संचित कर्मों का भी नाश होने में कोई बाधा न होने से उनके नाशार्थ केवलज्ञानी में उन असंख्य कर्मों का भोग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, अतः यही बात उचित प्रतीत होती है कि संचित कर्मों के नाशार्थ केवलज्ञानी के लिये भी सच्चरित्र का पालन आवश्यक है।

इस पर यदि यह शङ्का उठाई जाय कि अदृष्टात्मक पूर्व कर्मों का नाश यदि कभी तत्त्वज्ञान से, कभी सच्चरित्रपालन से और कभी भोग से माना जायगा तो व्यभिचार होगा, अतः पूर्वकर्मनाश के प्रति एक मात्र भोग को ही कारण मानना चाहिये, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि—नाश्य और नाशक में वैजात्य की कल्पना कर विजातीय अदृष्ट के नाश के प्रति विजातीय सच्चरित्र, विजातीय अदृष्ट के नाश के प्रति विजातीय तत्त्वज्ञान और विजातीय अदृष्टनाश के प्रति विजातीय भोग को कारण मानने से व्यभिचार की प्रसक्ति का परिहार सुकर हो जाता है।

यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि सच्चरित्र से पूर्व कर्मों का नाश तब तक नहीं होगा जब तक उससे तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति न हो जाय, अतः तत्त्वज्ञान ही कर्मनाश का कारण है सच्चरित्र तो तत्त्वज्ञान को पैदा करने से उपक्षीण होकर कर्मनाश के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मनाश को उत्पन्न करने में तत्त्वज्ञान सच्चरित्र का व्यापार है और व्यापार से व्यापारी कभी अन्यथासिद्ध नहीं होता, यह सर्वसम्मत नय है, अतः व्यापारभूत तत्त्वज्ञान व्यापारी सच्चरित्र को कर्मनाश के प्रति अन्यथा-सिद्ध नहीं बना सकता। इस प्रकार उपर्युक्त युक्तियों से यही सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान और सच्चरित्र दोनों मोक्ष के परस्परसापेक्ष कारण हैं।

ज्ञानं क्रियेव विरुणद्धि ससंवराशं
कर्म क्षिणोति च त्रयोऽशमनुप्रविश्य।
भोगः प्रदेशविषयो नियमो विपाके
भाज्यत्वमित्यनघ ! ते वचनं प्रमाणम् ॥ ८० ॥

इस श्लोक में समस्त अघों से मुक्त भगवान् महावीर के वचन को प्रमाण मानते हुये जिस तथ्य का वर्णन किया गया है, वह इस प्रकार है,

क्रिया-सच्चरित्र में विरति और संवर का तथा ज्ञान में सम्यक्त्व और संवर का समावेश होता है अतः क्रिया और ज्ञान दोनों क्रम से अपने अंश

विरति और सम्यक्त्व के प्रभाव से नूतन कर्मों की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध करते हैं और अपने संवर–तपोरूप अंश के प्रभाव से संचित कर्म का नाश करते हैं। इस प्रकार क्रिया और ज्ञान से अनागत कर्मों का निरोध और संचित कर्मों का नाश हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति सुकर हो जाती है।

यदि यह शङ्का की जाय कि कर्मनाश के प्रति भोग एक अनुपेक्षणीय कारण है अतः उसके विना संचित कर्मों का नाश नहीं हो सकता, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कर्मनाश में प्रदेशानुभवस्वरूप भोग के आनन्तर्य का ही नियम है, विपाकानुभवस्वरूप भोग के आनन्तर्य का नहीं। उसका तो कर्मनाश के प्रति भाज्यत्व-विकल्प ही अभिमत है। कहने का अभिप्राय यह है कि भोग के दो भेद होते हैं प्रदेशानुभव और विपाकानुभव। इनमें पहले का अर्थ है संचित कर्मराशि के एक भाग–प्रारब्धकर्मसमूह का फलभोग, जो वर्तमान जन्म में ही सम्पन्न हो जाता है, दूसरे का अर्थ है प्रारब्धभिन्न संचित कर्मों का फलभोग, जिसके लिये जन्मान्तरग्रहण की आवश्यकता होती है, इन दोनों में पहला भोग तो कर्मकोश के अविकल नाश का नियत पूर्ववर्ती होता है पर दूसरा भोग उसका वैकल्पिक पूर्ववर्ती होता है, जैसे मोक्षार्थी जब सम्यग् ज्ञान के अतिशय से समृद्ध न होकर केवल सम्यक् चारित्र्य के ही अतिशय से समृद्ध होता है तब उसे प्रारब्ध से भिन्न संचित कर्मों के लिये जन्मान्तर ग्रहण कर उन कर्मों का भोग करना पड़ता है किन्तु जब वह सम्यग् ज्ञान के अतिशय से भी समृद्ध हो जाता है तब उसी से शेष संचित कर्मों का नाश हो जाने के कारण जन्मान्तरसाध्य भोग की अपेक्षा उसे नहीं होती, अतः विपाकानुभवस्वरूप भोग कृत्स्नकर्म के क्षय का पूर्ववर्ती कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं भी होता है।

निष्कर्ष यह है कि जब मोक्षार्थी साधक को सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य के अतिशय की प्राप्ति हो जाती है तब जन्मान्तरसाध्य विपाकानुभव के विना ही उन्हीं दोनों से समस्त संचित कर्मों का नाश कर वह पूर्ण मुक्ति को हस्तगत कर लेता है।

ज्ञानं प्रधानमिह न क्रियया फलाप्तिः
मुक्तावुदीक्ष्यत इयं रजतभ्रमाद् यत्।
आकर्षणादि कुरुते किल मन्त्रबोधो
हीणेव दर्शयति तत्र न च क्रियाऽऽस्यम् ॥ ८१ ॥

इस श्लोक में नयदृष्टि से क्रिया की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता बताई गई है। श्लोकार्थ इस प्रकार है—

ज्ञान क्रिया की अपेक्षा प्रधान होता है, अर्थात् फलप्राप्ति का कारण ज्ञान होता है क्रिया नहीं होती, क्योंकि क्रिया होने पर भी फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती, जैसे सीपी में चांदी का भ्रम होने पर चांदी को प्राप्त करने की क्रिया होती है पर उस क्रिया से चांदी की प्राप्ति नहीं होती, इसी प्रकार जहां क्रिया लज्जित सी अपना मुख छिपाये रहती है अर्थात् जहाँ क्रिया उपस्थित नहीं रहती वहां भी मन्त्रज्ञान से आकर्षण आदि फलों की सिद्धि होती है, अतः क्रिया में फलप्राप्ति का अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार के व्यभिचार होने से क्रिया को फलप्राप्ति का कारण नहीं माना जा सकता।

पश्यन्ति किं न कृतिनो भरतप्रसन्न-
चन्द्रादिषूभयविधं व्यभिचारदोषम् ।
द्वारीभवन्त्यपि च सा न कथं चिदुच्चै-
र्ज्ञानं प्रधानमिति सङ्गरभङ्गहेतुः ॥ ८२ ॥

इस श्लोक में मोक्षरूप फल के प्रति क्रिया का व्यभिचार बता कर उसकी अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता प्रदर्शित की गई है, श्लोकार्थ इस प्रकार है।

क्या विद्वानों को यह ज्ञात नहीं है कि भरत, प्रसन्नचन्द्र आदि पुरुषों में मोक्षप्राप्ति के प्रति क्रिया में अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार के व्यभिचार हैं, अर्थात् क्रियावान् होने पर भी प्रसन्नचन्द्र को मुक्ति का लाभ नहीं हुआ और क्रियाहीन होने पर भी भरत को मुक्ति प्राप्त हो गई।

यदि यह शंका की जाय कि ज्ञान भी तो सीधे फलसिद्धि का सम्पादक न होकर क्रिया के द्वारा ही उसका सम्पादक होता है, तो फिर ज्ञान क्रिया की अपेक्षा प्रधान कैसे हो सकता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि क्रिया यद्यपि कथंचित् ज्ञान का द्वार है तथापि वह 'ज्ञान क्रिया की अपेक्षा प्रधान है' इस उच्च प्रतिज्ञा का व्याघात नहीं कर सकती। कहने का आशय यह है कि फलसिद्धि में ज्ञान के क्रियासापेक्ष होने से उसकी निरपेक्षता की हानि हो सकती है पर उसकी प्रधानता की हानि नहीं हो सकती। क्योंकि प्रधानता की हानि तब होती जब उसके विना केवल क्रिया से ही फल की प्राप्ति होती, पर यह बात तो है नहीं, हाँ, क्रियासापेक्ष होने से उसे फलसिद्धि का निरपेक्ष कारण नहीं माना जा सकता, पर इससे कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि निरपेक्ष कारणता का समर्थन करना अभीष्ट नहीं है।

सम्यक्त्वमप्यनवगाढमृते किलैत-
दभ्यासतस्तु समयस्य सुधावगाढम् ।
ज्ञानं हि शोधकममुष्य यथाञ्जनं स्या-
दक्ष्णो यथा च पयसः कतकस्य चूर्णम् ॥ ८३ ॥

इस श्लोक में सम्यक्त्व की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता बताई गई है जैन दर्शन में सम्यक्त्व, श्रद्धा, दर्शन, तत्त्वरुचि यह सब शब्द समानार्थक हैं। श्लोकार्थ इस प्रकार है।

ज्ञान के विना सम्यक्त्व-श्रद्धा की परिपुष्टि नहीं होती, अज्ञानी की श्रद्धा बड़ी दुर्बल होती है जो विपरीत तर्क से अनायास ही झकझोर उठती है, किन्तु सिद्धान्त के अभ्यास से-अभ्यस्त-सिद्धान्त-ज्ञान से इसकी पूर्ण पुष्टि हो जाती है, क्योंकि ज्ञान से सम्यक्त्व का शोधन ठीक उसी प्रकार सम्पन्न होता है जिस प्रकार अञ्जन से नेत्र का और कतक के चूर्ण से जल का शोधन होता है, अतः सम्यक्त्व का शोधक होने से ज्ञान उसकी अपेक्षा प्रधान है।

आसक्तिमाँश्च चरणे करणेऽपि नित्यं
न स्वान्यशासनविभक्तिविशारदो यः।
तत्सारशून्यहृदयः स बुधैरभाणि
ज्ञानं तदेकमभिनन्द्यमतः किमन्यैः ॥ ८४ ॥

इस श्लोक में भी ज्ञान की प्रधानता का ही प्रतिपादन है, श्लोकार्थ इस प्रकार है।

जो मनुष्य चरण-नित्यकर्म और करण-नैमित्तिक कर्म में निरन्तर आसक्त रहता है किन्तु स्वशासन-जैनशासन और अन्यशासन-जैनेतरशासन के पार्थक्य का पूर्णतया नहीं जानता, विद्वानों के कथनानुसार उसके हृदय में करण और चरण के ज्ञानदर्शनात्मक फल का उदय नहीं होता। इस लिये एक मात्र ज्ञान ही अभिनन्दनीय है, और अन्य समस्त साधन ज्ञान के समक्ष नगण्य हैं।

न श्रेणिकः किल बभूव बहुश्रुतर्द्धिः
प्रज्ञप्तिभाग् न न च वाचकनामधेयः।
सम्यक्त्वतः स तु भविष्यति तीर्थनाथः
सम्यक्त्वमेव तदिहावगमात्प्रधानम् ॥ ८५ ॥

इस श्लोक में सम्यक्त्व की अपेक्षा ज्ञान को प्रधान बताया गया है, श्लोकार्थ इस प्रकार है।

श्रेणिक (मगध का एक राजा) बहुश्रुत नहीं था, उसे प्रज्ञप्ति भी नहीं प्राप्त थी, वह वाचक की उपाधि से भूषित भी नहीं था। इस प्रकार ज्ञानी होने का कोई चिन्ह उसके पास नहीं था, किन्तु उसके पास सम्यक्त्व-श्रद्धा का बल था, जिसके कारण वह भविष्य में-आगामी उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकर होने वाला है, तो फिर ज्ञान न होने पर भी केवल सम्यक्त्व के बल से जब तीर्थंकर

के पवित्रतम सर्वोच्च पद पर पहुँचा जा सकता है तो स्पष्ट है कि सम्यक्त्व ज्ञान की अपेक्षा अति श्रेष्ठ है ।

भ्रष्टेन संयमपदादवलम्बनीयं
सम्यक्त्वमेव दृढमत्र कृतं प्रसङ्गैः ।
चारित्रलिङ्गवियुजोऽपि शिवं व्रजन्ति
तद्वर्जितास्तु न कदाचिदिति प्रसिद्धिः ॥ ८६ ॥

इस श्लोक में चारित्र्य की अपेक्षा भी सम्यक्त्व को श्रेष्ठ बताया गया है, श्लोकार्थ इस प्रकार है ।

संयम के पद से-चारित्र के मार्ग से च्युत होने पर मनुष्य को दृढ़ता के साथ सम्यक्त्व का ही अवलम्बन करना चाहिये, सम्यक्त्व को छोड़ किसी अन्य साधन के पीछे नहीं दौड़ना चाहिये, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि चारित्र का चिन्ह भी न रखने वाले मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं पर सम्यक्त्व-श्रद्धारहित मनुष्य कभी भी मोक्ष को नहीं प्राप्त कर पाते ।

ज्ञानी सुदृष्टिरपि कोऽपि तपो व्यपोह्य
दुष्कर्ममर्मदलने न कदापि शक्तः ।
एतन्निकाचितमपि प्रणिहन्ति कर्म-
स्वभ्यर्हितं भवति निर्वृतिसाधनेषु ॥ ८७ ॥

इस श्लोक में ज्ञान और श्रद्धा दोनों की अपेक्षा क्रिया को प्रधान बताया गया है, श्लोकार्थ इस प्रकार है ।

ज्ञान और सम्यग्दर्शन-श्रद्धा से सम्पन्न होने पर भी तप-सत्कर्म की उपेक्षा कर कोई भी मनुष्य दुष्कर्मों का विनाश करने में कभी भी समर्थ नहीं होता, और तप निकाचित-अन्य समस्त साधनों से क्षय न किये जाने योग्य कर्म को भी नष्ट कर देता है, अत; मोक्ष के सम्पूर्ण साधनों में तप ही अभ्यर्हित है ।

सम्यक् क्रिया व्यभिचरेन्न फलं विशेषो
हेत्वागतो न परतोऽविनिगम्यभावात् ।
न द्रव्यभावविधया बहिरन्तरङ्ग-
भावाच्च कोऽपि भजनामनुपोह्य भेदः ॥ ८८ ॥

इस श्लोक में फलप्राप्ति के प्रति क्रिया के उस व्यभिचार का परिहार किया गया है जो एकासीवें श्लोक में उद्भावित किया गया था, श्लोकार्थ इस प्रकार है ।

फलप्राप्ति का कारण सामान्य क्रिया नहीं है किन्तु सम्ययक् क्रिया है, क्योंकि सम्यक् क्रिया होने पर फलप्राप्ति अवश्य होती है, उसमें फलप्राप्ति

का व्यभिचार नहीं होता। सीपी में चांदी के ज्ञान से होने वाली चांदी प्राप्त करने की क्रिया सम्यक् क्रिया नहीं है, अतः उसमें फलप्राप्ति का व्यभिचार होने से भी कोई हानि नहीं है। इस पर यदि यह कहा जाय कि क्रिया में सम्यक्त्वरूप विशेष तो क्रिया के हेतुभूत ज्ञान से ही आता है, अतः सम्यक् क्रिया की अपेक्षा उसे उत्पन्न करने वाले ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानना चाहिये तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि क्रिया में सम्यक्त्व की सिद्धि ज्ञान से ही होती है, इस बात में कोई विनिगमक-प्रमाण नहीं है। क्योंकि ज्ञान से यदि सम्यक् क्रिया का उदय होता तो असम्यक् ज्ञान से भी होता, पर असम्यक् ज्ञान से सम्यक् क्रिया का उदय नहीं होता। इस पर यदि यह शङ्का की जाय कि सम्यग् ज्ञान भी तो ज्ञान ही है, अतः उसे सम्यक् क्रिया का कारण मानने पर भी क्रिया की अपेक्षा ज्ञान की श्रेष्ठता अपरिहार्य है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात तब ठीक होती जब ज्ञान का सम्यक्त्व क्रिया के विना ही सम्पन्न होता, पर यह बात है नहीं, यतः सम्यक् प्रकार से अवलोकन आदि क्रिया से ही वस्तु के सम्यग् ज्ञान का उदय होता है, अतः ज्ञान के सम्यक्त्व के भी मूल में क्रिया की ही अपेक्षा होने से क्रिया की ही श्रेष्ठता समुचित है।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान भावरूप होता है और क्रिया द्रव्य रूप होती है, और भाव और द्रव्य में भाव की ही प्रधानता सर्वमान्य है, अतः द्रव्यरूप क्रिया की अपेक्षा भावरूप ज्ञान की ही प्रधानता मानना उचित है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भजना-स्याद्वाद की उपेक्षा कर एकान्ततः ज्ञान को भावात्मक और क्रिया को द्रव्यात्मक नहीं माना जा सकता, किन्तु ज्ञाननिरपेक्ष क्रिया द्रव्यरूप और ज्ञानसापेक्ष क्रिया भावरूप, इसी प्रकार क्रियानिरपेक्ष ज्ञान द्रव्यरूप और क्रियासापेक्ष ज्ञान भावरूप होता है, यही बात मान्य है। फिर जब ज्ञान और क्रिया दोनों द्रव्य भाव उभयात्मक हैं तो द्रव्यभावात्मकता की दृष्टि से ज्ञान को क्रिया की अपेक्षा प्रधान कैसे कहा जा सकता है।

यदि कहा जाय कि ज्ञान मोक्ष का अन्तरङ्ग कारण है और क्रिया बहिरङ्ग कारण है अतः मोक्ष की सिद्धि में ज्ञान क्रिया की अपेक्षा प्रधान है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्यों कि उन दोनों की अन्तरङ्गता और बहिरङ्गता भी एकान्तरूप से मान्य नहीं है, किन्तु योगरूप से दोनों बहिरङ्ग भी हैं और उपयोग रूप से दोनों अन्तरङ्ग भी हैं, अतः जब यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान अन्तरङ्ग ही होता है और क्रिया बहिरङ्ग ही होती है तब अन्तरङ्ग बहिरङ्ग की दृष्टि से एक को अन्य की अपेक्षा प्रधानता कैसे दी जा सकती है।

आकर्षणादिनियताऽस्ति जपक्रियैव
पत्युः प्रदर्शयति सा न मुखं परस्य ।
वैकल्पिकी भवतु कारणता च बाधे
द्वारित्वमप्युभयतो मुखमेव विघ्नः ॥ ८९ ॥

इस श्लोक में एकासीवें श्लोक के इस कथन का निरास किया गया है कि क्रिया के न रहने पर भी केवल मन्त्रज्ञान से आकर्षण आदि की सिद्धि होने से फलप्राप्ति के प्रति क्रिया की अपेक्षा ज्ञान का प्राधान्य है। श्लोकार्थ इस प्रकार है।

आकर्षण आदि के पूर्व केवल आकर्षणादिकारी मन्त्र के ज्ञान का ही अस्तित्व नियत नहीं है, अपितु उस मन्त्र के जप की क्रिया का भी अस्तित्व नियत है। यह बात सर्वविदित है कि आकर्षणकारी मन्त्र के ज्ञानमात्र से आकर्षण नहीं सम्पन्न होता किन्तु उसका जप करने से सम्पन्न होता है, अतः मन्त्रजपात्मक क्रिया से आकर्षण की सिद्धि होने के कारण आकर्षण को मन्त्रज्ञानमात्र का कार्य बताकर क्रिया की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता नहीं प्रतिष्ठित की जा सकती।

इस सन्दर्भ में एकासीवें श्लोक में जो यह कहा गया कि जहाँ क्रिया लज्जित सी अपना मुख छिपाये रहती है वहाँ भी केवल मन्त्रज्ञान से ही आकर्षण आदि कार्य होते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त स्थल में आकर्षण आदि के पूर्व मन्त्रजपात्मक क्रिया अपने स्वामी स्याद्वादी के सम्मुख अपना मुख नहीं छिपाती उसे तो अपने मुख का प्रदर्शन करती ही है। किन्तु वह मुख छिपाती है उससे जो स्याद्वादविरोधी होने से उसका मुख देखने का अधिकारी नहीं है। कहने का आशय यह है कि जो लोग क्रिया की उपेक्षा कर केवल ज्ञान को ही फल का साधक मानते हैं ऐसे एकान्तवादी को ही आकर्षणादि के पूर्व मन्त्र-जपात्मक क्रिया की उपस्थिति नहीं विदित होती। पर जो लोग इस एकान्तवाद में निष्ठावान् नहीं हैं ऐसे विवेकशील स्याद्वादी को आकर्षणादि के पूर्व मन्त्र-जपात्मक क्रिया की उपस्थिति स्पष्ट अवभासित होती है। अतः आकर्षण आदि को क्रियानिरपेक्ष मन्त्रज्ञानमात्र का कार्य बताकर क्रिया की अपेक्षा ज्ञान को प्रधानता प्रदान करना उचित नहीं हो सकता।

बयासीवें श्लोक में प्रसन्नचन्द्र नामक पुरुष में क्रिया में मोक्षप्राप्ति का अन्वय व्यभिचार और भरत नामक पुरुष में क्रिया में मोक्ष प्राप्ति का व्यतिरेक व्यभिचार बताकर जो क्रिया में मोक्षकारणता का निषेध किया गया, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त व्यभिचार से क्रिया में मोक्ष की नियत कारणता का ही प्रतिषेध हो सकता है न कि वैकल्पिक कारणता का भी प्रतिषेध हो

सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि क्रिया को मोक्ष का सार्वत्रिक कारण माना जाय तो उसमें उक्त व्यभिचार बाधक हो सकता है पर यदि क्रियाविशेष को पुरुषविशेष के मोक्ष का कारण माना जाय तो उसमें उक्त व्यभिचार बाधक नहीं हो सकता, अतः जैन दर्शन की इस मान्यता में कोई दोष नहीं हो सकता कि जिस पुरुष को ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर मोक्षलाभ होता है उस पुरुष के मोक्ष के प्रति ज्ञान कारण होता है और जिस पुरुष को चारित्रसम्पत्ति के समनन्तर मोक्षलाभ होता है उस पुरुष के मोक्ष के प्रति क्रिया-चारित्र कारण होता है।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान ही मोक्ष का प्रधान कारण है और क्रिया उसका द्वार है और द्वार की अपेक्षा द्वारी का प्रामुख्य होता है अतः क्रिया की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता अनिवार्य है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्वार-द्वारिभाव ज्ञान और क्रिया दोनों में समान है, अर्थात् जैसे कहीं ज्ञान प्रधान और क्रिया उसका द्वार होती है उसी प्रकार कहीं क्रिया प्रधान और ज्ञान उसका द्वार होता है, इसलिए कहीं क्रिया द्वारा ज्ञान और कहीं ज्ञान द्वारा क्रिया से मोक्ष की सिद्धि होने के कारण एकान्त रूप से यह कथन उचित नहीं हो सकता कि ज्ञान मोक्ष का प्रधान साधन है और क्रिया अप्रधान।

सम्यक्त्वशोधकतयाऽधिकतामुपैतु
ज्ञानं ततो न चरणं तु विना फलाय।
ज्ञानार्थवादसदृशाश्चरणार्थवादाः
श्रूयन्त एव बहुधा समये ततः किम्? ॥ ९० ॥

सम्यक्त्व—श्रद्धा का शोधक होने से ज्ञान का स्थान यदि कुछ ऊँचा होता है तो हो, पर इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि ज्ञान क्रिया-निरपेक्ष हो कर फल का साधक भी होता है। यदि ज्ञान की प्रशंसा करने वाले अर्थवाद वचनों के बल पर ज्ञान को प्रधानता दी जाय, तो यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि जैन शासन में क्रिया की भी प्रशंसा करने वाले बहुत से अर्थवाद वचन उपलब्ध होते हैं, अतः अर्थवाद वचनों के आधार पर कोई एकपक्षीय निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

शास्त्राण्यधीत्य बहवोऽत्र भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियैकनिरतः पुरुषः स विद्वान्।
सञ्चिन्त्यतां निभृतमौषधमातुरं किं
विज्ञातमेव वितनोत्यपरोगजालम् ॥ ९१ ॥

इस श्लोक में ज्ञान की अपेक्षा क्रिया का प्राशस्त्य बताया गया है, श्लोकार्थ इस प्रकार है।

ऐसे बहुत लोग होते हैं जो शास्त्र का अध्ययन करके भी मूर्ख ही रह जाते हैं, तदनुसार क्रियाशील नहीं हो पाते। जो पुरुष शास्त्रानुसार क्रियापरायण होता है, वही सच्चे अर्थ में विद्वान् होता है। यह कौन नहीं जानता कि औषध को जानकर उसका चिन्तनमात्र करने से रोग से मुक्ति नहीं मिलती किन्तु उसके लिए औषध का सविधि सेवन अपेक्षित होता है।

ज्ञानं स्वगोचरनिबद्धमतः फलाप्ति-
नैकान्तिकी चरणसंवलितात्तथा सा।
ज्ञातानि चात्र तरणोत्कनटीपथज्ञा-
श्चेष्टान्वितास्तदितरे च निदर्शितानि ॥ ९२ ॥

इस श्लोक में केवल ज्ञान को नहीं किन्तु कर्मयुक्त ज्ञान को फलसिद्धि का कारण बताया गया है, श्लोकार्थ इस प्रकार है।

ज्ञान अपने विषय में बंधा होता है, वह अपने विषय का प्रकाशन मात्र कर सकता है, उसकी प्राप्ति कराने में वह अकेले असमर्थ है, अतः यह निर्विवाद है कि कोरे ज्ञान से फल की सिद्धि नियत नहीं है, नियत फलसिद्धि तो चरण-कर्म से युक्त ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। इस विषय में कई दृष्टान्त भी प्रसिद्ध हैं, जैसे तैरने की कला में निपुणता और तैरने की इच्छा होते हुये भी मनुष्य किसी नदी को तब तक नहीं तैर पाता जब तक वह तैरने के लिये हाथ पैर चलाने की शारीरिक क्रिया नहीं करता, एवं नाचने की कला में कुशल और नाचने को इच्छुक भी नर्तकी तब तक नृत्य नहीं कर पाती जब तक वह अङ्गों के आवश्यक अभिनय में सक्रिय नहीं होती, मार्ग जानने वाला और उस मार्ग पर यात्रा की इच्छा रखने वाला भी मनुष्य उस मार्ग पर तब तक नहीं चल पाता जब तक वह उस मार्ग पर पैर बढ़ाने की क्रिया नहीं करता। इन दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि अकेले ज्ञान से कोई कार्य नहीं होता किन्तु उसके लिये उसे कर्म के सहयोग की अपेक्षा होती है, अतः जैनशासन का यह सिद्धान्त प्रबल प्रमाणों और युक्तियों पर आधारित है कि सम्यक् चारित्र-युक्त सम्यक् ज्ञान से ही मोक्ष का लाभ होता है। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु जन को ज्ञान और चारित्र दोनों के ही अर्जन के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

मुक्त्वा नृपो रजतकाञ्चनरत्नखानी-
र्लोहाकरं प्रियसुताय यथा ददाति।
तद्वद् गुरुः सुमुनये चरणानुयोगं
शेषत्रयं गुणतयेत्यधिका क्रियैव ॥ ९३ ॥

इस श्लोक में ज्ञान की अपेक्षा चारित्र-क्रिया को अभ्यर्हित बताया गया है। श्लोकार्थ इस प्रकार है।

जिस प्रकार राजा अपने प्रियपुत्र को चाँदी, सोने और रत्न की खानें न देकर लोह की ही खान देता है और शेष तीन पुत्रों को चांदी आदि की खानें देता है, उसी प्रकार गुरु अपने योग्य मुनि शिष्य को गणित, धर्म-कथा और द्रव्य का उपदेश न देकर प्रधान रूप से चारित्र का ही उपदेश देता है, और गणित आदि का उपदेश अन्य शिष्यों को देता है और यदि उसे भी देता है तो गौणरूप से ही देता है। जिस प्रकार उक्त वितरणव्यवस्था में राजा का यह आशय होता है कि चांदी आदि के खानों की रक्षा के लिये अपेक्षित शस्त्रों के निर्माणार्थ लोहा प्राप्त करने के लिये चाँदी आदि के खानों के स्वामियों को लोह की खान के स्वामी को चांदी आदि देना होगा और इस प्रकार लोह की खान वाले पुत्र को चांदी, सोने और रत्न की प्राप्ति निरन्तर होती रहेगी। ठीक उसी प्रकार उक्त प्रकार से उपदेश देने वाले गुरु का भी यह अभिप्राय होता है कि गणित, धर्म-कथा और द्रव्य का उपदेश प्राप्त किये हुये शिष्य दीक्षा का समुचित काल बताकर, वैराग्यकारी कथाओं का प्रवचन कर और तत्त्वविवेचन से सम्यक्त्व का शोधन कर चारित्र का उपदेश धारण करने वाले शिष्य का कार्य सम्पादन करते रहेंगे, और वह अपने चारित्र के बल से अपनी साधना में सतत आगे बढ़ता जायगा। गुरु के इस विवेकपूर्ण कार्य से यह स्पष्ट है कि साधना में ज्ञान का सामान्य उपयोग है और चारित्र का अत्यधिक उपयोग है अतः चारित्र-क्रिया ज्ञान से निर्विवाद रूप से प्रधान है।

प्रज्ञापनीयशमिनो गुरुपारतन्त्र्यं
ज्ञानस्वभावकलनस्य तथोपपत्तेः।
ध्यान्ध्यं परं चरणचारिमशालिनो हि
शुद्धिः समग्रनयसङ्कुलनावदाता ॥ ९४ ॥

जो शमसम्पन्न साधु प्रज्ञापनीय-उपदेशार्ह होता है, अर्थात् असत् आग्रह का परित्याग करने को उद्यत रहता है वह गुरु की अधीनता स्वीकार करता है। गुरु के अधीन होने से उसके ज्ञान का परिष्कार होता है, किन्तु जो साधु प्रज्ञापनार्ह नहीं होता वह गुरु की अधीनता नहीं स्वीकार करता। फलतः उत्कृष्ट चारित्र से सम्पन्न होने पर भी उसकी बुद्धि अन्धी ही रह जाती है, क्योंकि बुद्धि की अवदातता-शुद्धि समग्रनयों के सङ्कुलन-समन्वित प्रयोग से ही सम्पन्न होती है और वह संकलन सद्गुरु के अनुग्रहपूर्ण उपदेश के विना सम्भव नहीं होता।

न श्रेणिकस्य न च सात्यकिनो न विष्णोः
सम्यक्त्वमेकममलं शरणं बभूव ।
चारित्रवर्जिततया कलुषाविलास्ते
प्राप्ता गतिं घनतमैर्निचितां तमोभिः ॥ ९५ ॥

श्रेणिक, सात्यकि और विष्णु निर्मल सम्यक्त्व से सम्पन्न थे, पर अकेले सम्यक्त्व से उनकी रक्षा न हो सकी, किन्तु चारित्रहीन होने के कारण पाप से कलुषित हो उन्हें घोर अन्धकार से पूर्ण नारकी गति प्राप्त करनी पड़ी। इससे स्पष्ट है कि चारित्र के अभाव में ज्ञान और श्रद्धा दोनों का कोई मूल्य नहीं होता।

न ज्ञानदर्शनधरैर्गतयो हि सर्वाः
शून्या भवन्ति नृगतौ तु चरित्रमेकम् ।
न ज्ञानदर्शनगुणाढ्यतया प्रमादः
कार्यस्तदार्यमतिभिश्चरणे कदापि ॥ ९७ ॥

देव, मनुष्य, पशु-पक्षी तथा नारकीय जीव आदि की जितनी भी योनियां हैं वह ज्ञान और श्रद्धा से युक्त पुरुषों से शून्य नहीं होतीं, अर्थात् ज्ञान और श्रद्धा से सम्पन्न जीव सभी योनियों में होते हैं, किन्तु मनुष्य योनि की यह विशेषता है कि उसमें जीव को चारित्र अर्जन करने का अवसर मिलता है और वह उस अवसर का लाभ उठा कर चारित्र से मण्डित हो जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। तो फिर जब यह स्पष्ट है कि ज्ञान और श्रद्धा के गुणों से सम्पन्न होने पर भी चारित्र के अभाव में जीव को विविध योनियों में भटकना पड़ता है तो सद्बुद्धि मानव को अपने ज्ञान और श्रद्धा के वैभव पर अहङ्कार न कर चारित्र के अर्जन में दत्तचित्त होना चाहिये। उस विषय में उसे कदापि प्रमाद न करना चाहिये।

श्राद्धश्चरित्रपतितोऽपि च मन्दधर्मा
पक्षं त्रयोऽपि कलयन्त्विह दर्शनस्य ।
चारित्रदर्शनगुणद्वयतुल्यपक्षा
दक्षा भवन्ति सुचरित्रपवित्रचित्ताः ॥ ९७ ॥

श्रावक, चारित्र की समुन्नत मर्यादा से च्युत साधक तथा धर्म के आचरण में मन्द उत्साह वाले मानव इन तीनों को ही मोक्षमार्ग पर प्रस्थान करने के लिये दर्शनपक्ष का आश्रय लेना चाहिये। क्योंकि दर्शन-श्रद्धा का धरातल दृढ़ होने पर अन्य सब साधनों के सम्पन्न होने का पथ प्रशस्त हो जाता है। जिन साधकों के चारित्र और दर्शन दोनों पक्ष समान रूप से परिपुष्ट होते हैं वे

सम्यक् चारित्र के प्रभाव से पवित्र-चित्त होने के कारण मोक्ष को आत्मसात् करने में दक्ष होते हैं। तात्पर्य यह कि चारित्र की श्रेष्ठता प्रत्येक स्थिति में अक्षुण्ण है।

संज्ञानयोगघटितं शमिनां तपोऽपि
श्रेण्याश्रयादिह निकाचितकर्महन्तृ।
बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरध्व-
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्॥ ९८॥

सम्यक् ज्ञान रूप योग से युक्त तप अपूर्वकरण की श्रेणी का आलम्बन कर शमसम्पन्न साधकों के निकाचित-भोगैकनाश्य संचित कर्मों को भी नष्ट कर देता है, अतः साधक को अपने आध्यात्मिक तप के बलवर्धन के लिये परम कठिन भी बाह्यतप का अनुष्ठान बड़ी तत्परता के साथ करना चाहिये।

इत्थं विशिष्यत इदं चरणं तवोक्तौ
तैस्तैर्नयैः शिवपथे स्फुटभेदवादे।
चिच्चारुतां परमभावनयस्त्वभिन्न-
रत्नत्रयीं गलितबाह्यकथां विधत्ते॥ ९९॥

पूर्वोक्त रीति से भिन्न-भिन्न नयों की दृष्टि से मोक्षमार्ग की भिन्नता नितान्त स्फुट है, फिर भी भगवान् महावीर के शासन में ज्ञान एवं दर्शन की अपेक्षा चारित्र का ही उत्कर्ष माना गया है और परमभावनय— शुद्धनिश्चनय सारी बाह्यकथा— समस्त भेदचर्चा का विदलन कर ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रय की फलतः अभिन्नता का प्रतिपादन करता हुआ चित्स्वरूप आत्मा की चारुता-विशुद्ध स्वरूपनिष्ठा को प्रतिष्ठित करता है।

अशुद्धिः शुद्धिं न स्पृशति वियतीवात्मनि कदा-
ऽप्यथारोपाकोपारुणिमकणिकाकातरदृशाम्।
त्वदुक्ताः पर्याया घनतरतरङ्गा इव जवाद्
विवर्त्तव्यावृत्तिव्यतिकरभृतश्चिज्जलनिधौ॥ १००॥

जिस प्रकार धूल, धुवाँ, वर्षा आदि का उत्पात होने पर किसी प्रकार की भी मलिनता आकाश की निसर्ग निर्मलता को कभी निरस्त नहीं कर पाती उसी प्रकार क्रोध के अरुण-कणों से कातर नेत्र वाले विरोधियों के आरोप से किसी प्रकार की भी अशुद्धि आत्मा की स्वाभाविक शुद्धि को कदापि अभिभूत नहीं कर सकती। भगवान् महावीर ने आत्मा में मनुष्यत्व, देवत्व आदि जिन पर्यायों का अस्तित्व बताया है और जिनमें नाना प्रकार के विवर्तों

के विविध आवर्तनों के संसर्ग होते रहते हैं, चित्समुद्र आत्मा में उनकी स्थिति ठीक वही है जो जल के महासमुद्र में वेग से उत्थान-पतन को प्राप्त करने वाले उसके उद्रिक्त तरङ्गों की होती है। कहने का आशय यह है कि जैसे समुद्र और उसके तरङ्गों को एक दूसरे से भिन्न प्रमाणित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार चिद्रूप आत्मा और उसके अनन्तानन्त पर्यायों को भी एक दूसरे से भिन्न नहीं सिद्ध किया जा सकता। अर्थात् छोटे बड़े अगणित तरङ्गों की समष्टि से आवेष्टित जल ही जैसे समुद्र का अपना स्वरूप है वैसे ही आगमापायी स्व, पर अनन्त पर्यायों से आलिङ्गित चित् ही आत्मा का अपना वास्तव स्वरूप है। विरुद्धमतवादियों द्वारा बड़े आग्रह से जिन धर्मों का आरोप किया जाता है वे आत्मा के स्वरूपनिर्वर्तक नहीं हो सकते।

न बद्धो नो मुक्तो न भवति मुमुक्षुर्न विरतो,
न सिद्धः साध्यो वा व्युपरतविवर्तव्यतिकरः।
असावात्मा नित्यः परिणमदनन्ताविरतचि-
च्चमत्कारस्फारः स्फुरति भवतो निश्चयनये ॥ १०१ ॥

भगवान् महावीर के निश्चयनय के अनुसार आत्मा न बद्ध है, न मुक्त है, न मोक्ष का इच्छुक है, न कर्मविरत है, न सिद्ध है और न साध्य है, उसमें किसी प्रकार के विवर्त्त का कोई सम्पर्क नहीं है, वह नित्य है और निरन्तर परिणाम को प्राप्त होते रहने वाले असीम शाश्वत चिदानन्द का स्वप्रकाश विकास है।

दृशां चित्रद्वैतं प्रशमवपुषामद्वयनिधिः
प्रसूतिः पुण्यानां गलितपृथुपुण्येतरकथः।
फलं नो हेतुर्नो तदुभयकथासावनुभय-
स्वभावस्त्वऽज्ञाने जयति जगदादर्शचरितः ॥ १०२ ॥

आत्मा विभिन्न नयदृष्टियों से सम्पन्न पुरुषों के लिये आश्चर्यकारी द्वैत और प्रशमप्रधान पुरुषों के लिये चिदानन्दमय अद्वैत है। वह पुण्यों का कारण है और पाप की बृहत् कथावों से परे है। वह एकान्ततः न किसी का कार्य है और न किसी का कारण। वह अपेक्षा से कार्य-कारण उभयात्मक भी है और साथ ही कार्यकारण उभयानात्मक भी है, संसार में उसका चरित्र

आदर्शस्वरूप है। भगवान् महावीर के केवलज्ञान में उसका यही स्वरूप स्फुरित हुआ है।

गुणैः पर्यायैर्वा तव जिन ? समापत्तिघटना-
दसौ त्वद्रूपः स्यादिति विशदसिद्धान्तसरणिः।
अतस्त्वद्ध्यानायाध्ययनविधिनाम्नायमनिशं
समाराध्य श्रद्धां प्रगुणयति बद्धाञ्जलिरयम् ॥ १०३ ॥

जैन शासन का यह सुस्पष्ट सिद्धान्त है कि जो। मनुष्य गुणों और पर्यायों के रूप में भगवान् जिन के साथ अपने तादात्म्य का सतत अनुध्यान करता है वह भगवान् के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस लिये प्रकृत ग्रन्थ के रचयिता श्रीयशोविजयगणि आगम का विधिपूर्वक अध्ययन कर बद्धाञ्जलि हो अहर्निश अपनी श्रद्धा का संभरण करने में संलग्न हैं जिससे वे अपेक्षित रूप में भगवान् का ध्यान कर सकें।

विवेकस्तत्त्वस्याध्ययमनघ ! सेवा तव भव-
स्फुरत्तृष्णावल्लीगहनदहनोद्दाममहिमा।
हिमानीसम्पातः कुमतनलिने सज्जनदृशां
सुधापूरः क्रूरग्रहदृगपराधव्यसनिषु ॥ १०४ ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के रूप में तत्त्व का यह विवेचन अघमुक्त भगवान् महावीर की सेवा है। संसार में निरन्तर पनपने वाली तृष्णालता के जंगल को जलाने वाला असाधारण सामर्थ्यशाली अग्नि है। कुमतरूपी कमल के लिये हिमपात है। सज्जनों के नेत्र को निर्मल बनाने वाला अमृत का पूर है। जैन शासन के उल्लङ्घन रूप अपराध के व्यसनी जनों के लिये क्रूर ग्रह की विपत्कारी दृष्टि है।

कुतर्कैर्ध्वस्तानामतिविषमनैरात्म्यविषयै-
स्तवैव स्याद्वादस्त्रिजगदगदङ्कारकरुणा।
इतो ये नैरुज्यं सपदि न गताः कर्कशरुज-
स्तदुद्धारं कर्तुं प्रभवति न धन्वन्तरिरपि ॥ १०५ ॥

अनात्मवाद के अत्यन्त कठोर कुतर्कों से जो लोग पीड़ित हैं उनके लिये भगवान् महावीर का स्याद्वाद ही तीनों लोकों को नैरुज्य प्रदान करने वाला अनुग्रहपूर्ण औषध है। अतः जो कठिन रोगी इस स्याद्वाद से तत्काल नीरोग नहीं हो पाते उनकी चिकित्सा आदिवैद्य धन्वन्तरि भी नहीं कर सकते।

इदमनवमं स्तोत्रं चक्रे महाबल ! यन्मया-
तव नवनवैस्तर्कोद्ग्राहैर्भृशं कृतविस्मयम् ।
तत इह बृहत्तर्कग्रन्थश्रमैरपि दुर्लभां
कलयतु कृती धन्यम्मन्यो यशोविजयश्रियम् ॥१०६॥

ग्रन्थकार का कहना है कि उन्होंने नये नये तर्कों के प्रयोग से महाबलशाली भगवान् के इस अत्यन्त आश्चर्यकारी और सर्वोत्तम स्तोत्र की रचना की है। इसलिये अपने को धन्य मानने वाला कोई भी विद्वान् तर्कशास्त्र के बड़े बड़े ग्रन्थों का श्रमपूर्वक अध्ययन करने पर भी न प्राप्त होने वाली यशोविजय की श्री को इस स्तोत्र ग्रन्थ मे प्राप्त कर सकता है।

स्थाने जाने नात्र युक्ति ब्रुवेऽहं
वाणी पाणी योजयन्ती यदाह ।
धृत्वा बोधं निर्विरोधं बुधेन्द्रा-
स्त्यक्त्वा क्रोधं ग्रन्थशोधं कुरुध्वम् ॥ १०७ ॥

ग्रन्थकार का कहना है कि वे इस बात को भले प्रकार समझते हैं और ठीक समझते हैं कि इस ग्रन्थ में परमत का निराकरण और स्वमत के स्थापन के लिये जो युक्ति प्रस्तुत की गई है वह उनकी अपनी सूझ नहीं है, क्यों कि उसके प्रयोग के समय स्वयं सरस्वती करबद्ध हो विद्वानों से निवेदन किया करती थीं कि वे निर्विरोध भाव से इस ग्रन्थ को समझने का कष्ट करें और यदि कहीं कोई त्रुटि प्रतीत हो तो उस पर क्रोध न कर सिद्धान्तानुसार उसका संशोधन कर लें।

प्रबन्धाः प्राचीनाः परिचयमिताः खेलतितरां
नवीना तर्कालि हृदि विदितमेतत्कविकुले ।
असौ जैनः काशीविबुधविजयप्राप्तविरुदो
मुदो यच्छत्यच्छः समयनयमीमांसितजुषाम् ॥ १०८ ॥

यह विद्वत्समाज को ज्ञात है कि इस ग्रन्थकार ने पुराने सभी शास्त्रग्रन्थों का समीचीन परिचय प्राप्त किया है और साथ ही इसके हृदय में नई नई तर्कमालायें निरन्तर नृत्य करती रहती हैं। यही कारण है कि ज्ञान और चरित्र से स्वच्छ यह जैन ग्रन्थकार काशी के विद्वानों पर विजय प्राप्त कर न्याय-विशारद के विरुद से विभूषित हो समय और नय की मीमांसा करने वाले मनीषियों को मुदित करने के निमित्त इस ग्रन्थ की रचना में उद्यत हुआ।

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन

प्रस्तुत विशाल ग्रन्थ की सामग्री ५ भागों में विभक्त है : १. जैन धर्म का इतिहास, २ शासन-व्यवस्था, ३. आर्थिक स्थिति, ४. सामाजिक व्यवस्था और ५. धार्मिक व्यवस्था। इस प्रकार जैनागम-साहित्य में प्राप्त भारतीय समाज की तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति का सांगोपांग सुचारु प्रामाणिक वर्णन बड़ी रोचक भाषा में प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक कहीं से भी खोली जाय, छोड़ने को जी नहीं चाहता। प्रामाणिकता तथा विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिये टिप्पणीरूप में मूलग्रन्थों तथा प्रसंगों का सुस्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है। तीन बहुमूल्य परिशिष्ट भी संलग्न हैं जिनमें साम्प्रदायिक घटनाओं, आचारों तथा नामों का विस्तृत व्याख्यात्मक विवेचन एवं स्वविषयक शब्द-कोष दिया गया है। अन्त में विस्तृत शब्दानुक्रमणिका भी दी गई है। पक्की जिल्द तथा कागज एवं मुद्रण आदि सभी मनोरम हैं। २५–००

प्रमेयरत्नमाला

अनुवादक : हीरालाल शास्त्री जैन

आचार्य माणिक्यनन्दी ने परीक्षामुख की रचना सूत्र रूप में की थी। इसके ऊपर आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड, विस्तृत भाष्य के रूप में लिखा था। इसके पश्चात् लघु अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला नाम की टीका लिखी थी। यह छात्रों के लिए कुछ दुरूह थी। अतः इसके हिन्दी अनुवाद में मूल के एक-एक शब्द का रहस्य तथा कठिन स्थलों का मर्म बीच-बीच में विशेषार्थ देकर खोला गया है। हिन्दी अनुवाद अत्यन्त सरल, सरस और हृदयग्राह्य है। १५–००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–१